आजकल

अक्तूबर 1980
75 पैसे

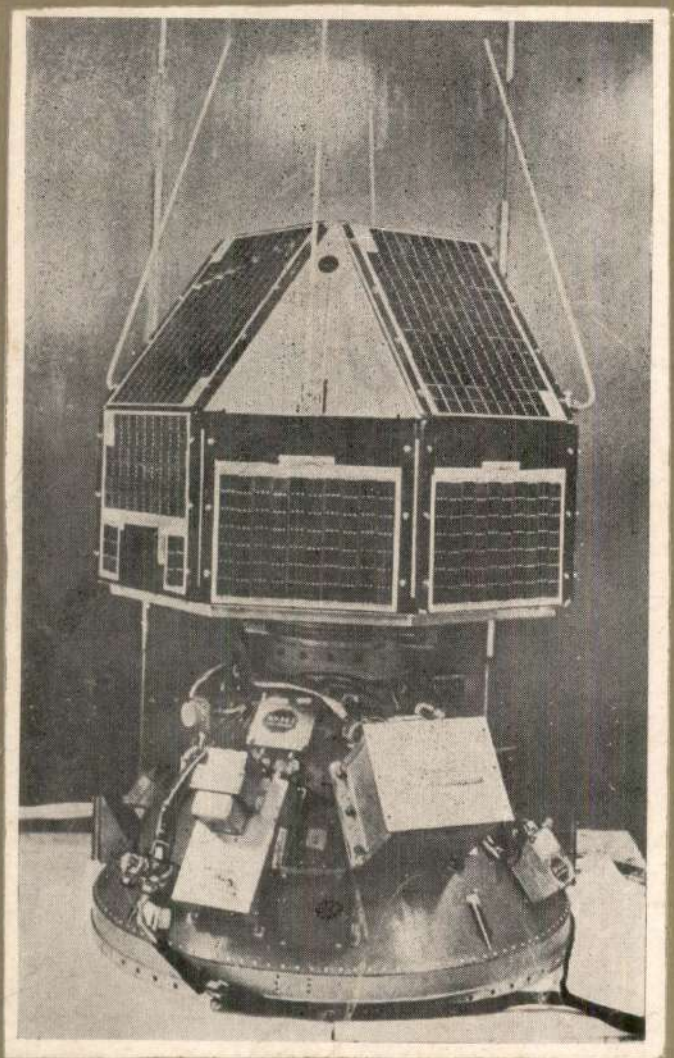

भारतीय वैज्ञानिकों की उपलब्धि

"चौथा सप्तक संपादित करके मैंने कोई अपराध नहीं किया।" –'अज्ञेय'

राजेन्द्र यादव से लोठार लुत्से की बातचीत

मन्नू भंडारी के 'महाभोज' की समीक्षा

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की तीन कविताएं

● इलाचन्द्र जोशी ● धनंजय वर्मा ● मधुरेश
● मृणाल पांडे ● गोविंद मिश्र ● महीपसिंह

हमारी पत्रिकाएं

प्रकाशन विभाग से प्रकाशित उपयोगी एवं सुरुचिपूर्ण पत्रिकाएं

आजकल (हिंदी)

आधुनिक साहित्य एवं संस्कृति का संवाहक मासिक

आजकल (उर्दू)

इल्मी और तहज़ीबी माहनामा

बाल भारती

बच्चों को दिलचस्प कहानियां एवं उपयोगी साहित्य देने वाला प्रतिनिधि मासिक

भगीरथ (अंग्रेजी और हिंदी)

भारत के जल और विद्युत संसाधनों के विकास का परिचय देने वाला अनूठा त्रैमासिक

इंडियन एंड फारेन रिव्यू (अंग्रेजी)

राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं एवं साहित्य-कला की चर्चा करने वाला पाक्षिक

कुरुक्षेत्र

ग्राम-पुनर्रचना एवं ग्रामीण लोकतंत्र की चर्चा करने वाली उपयोगी पत्रिका (अंग्रेजी में पाक्षिक तथा हिंदी में मासिक)

योजना

(हिंदी, अंग्रेजी, असमिया, बंगला, गुजराती, मलयालम, मराठी, तमिल तथा तेलुगु में) भारतीय आयोजन एवं विकास के क्षेत्र में उपलब्धियों एवं समस्याओं पर निष्पक्ष चर्चा करने वाला पाक्षिक

रोजगार समाचार

(हिंदी, उर्दू एवं अंग्रेजी में) सरकारी विभागों, सरकारी क्षेत्र के प्रतिष्ठानों, बैंकों, विश्वविद्यालयों तथा गैर-सरकारी क्षेत्र में रोजगार के अवसरों की जानकारी देने वाला एक अनूठा माध्यम। इसके अतिरिक्त इसमें विभिन्न परीक्षाओं में बैठने वाले विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सामग्री भी रहती है।

विवरण के लिए लिखें :

व्यापार व्यवस्थापक

प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस,
नई दिल्ली-110001

आजकल

आधुनिक साहित्य एवं संस्कृति का संवाहक मासिक

वर्ष : 36; अंक : 6
अक्तूबर 1980
(आश्विन-कार्तिक 1902)

संपादक :
द्रोणवीर कोहली
उप-संपादक :
योगेंद्र दत्त शर्मा
आवरण सज्जा :
मेघजी परमार

संपादकीय पत्र-व्यवहार :
संपादक 'आजकल' (हिंदी)
पटियाला हाउस
नई दिल्ली-110001
(टेलीफोन : 387069)

लेख

2. 'चौथा सप्तक' संपादित करके मैंने कोई अपराध नहीं किया है : **'अज्ञेय'**
22. राजनीतिक कार्यवाहियों का औपन्यासिक संघटन 'महाभोज' : **विनय**
24. चुनावी राजनीति का दस्तावेज : **रत्नलाल शर्मा**
28. 'निराला' के साहित्य का द्वैत रूप : **इलाचंद्र जोशी**
30. भारतीय वैज्ञानिकों की उपलब्धि : **प्रदीप चतुर्वेदी**
34. सृजन और अनुवाद : **धनंजय वर्मा**
36. एक पुरानी दीवार (व्यंग्य) : **रवींद्रनाथ त्यागी**
38. वैयक्तिकता बनाम सामाजिकता : **अ० द० पांडेय**
39. मतवादों की घेराबंदी : **शैलेश मटियानी**
41. रामकथा की अभिनव दृश्य-दीर्घा : **इंदुजा अवस्थी**
42. गांधीजी दार्शनिक नहीं, चिंतक थे : **किसलय बंद्योपाध्याय**

काव्य

4. तीन कविताएं : **सर्वेश्वर दयाल सक्सेना**

लेखक से बातचीत

13. राजेंद्र यादव : **लोठार लुत्से**

कथा-कहानी

8. यहां तौल सही होता है : **दामोदर दत्त दीक्षित**
17. हुजूर दरबार (उपन्यास-अंश) **गोविंद मिश्र**

आत्मकथ्य; समीक्षा; पत्र-प्रतिक्रिया

'आजकल' का चंदा : एक प्रति 75 पैसे, वार्षिक 8 रुपए, द्विवार्षिक 14 रुपए तथा त्रिवार्षिक 20 रुपए मात्र। (छात्रों तथा अध्यापकों के लिए चंदे में दस प्रतिशत की विशेष छूट। इसके लिए प्रमाणपत्र भेजना आवश्यक है)। 'आजकल' के नियमित ग्राहकों को, प्रकाशन विभाग की 5 रुपए या अधिक मूल्य की पुस्तकें खरीदने पर 20 प्रतिशत छूट दी जाती है।
विदेश में : एक प्रति : 25 सेंट या 12 पेंस; वार्षिक : 2.40 डालर या 1.20 पौंड; द्विवार्षिक : 4.20 डालर या 2.10 पौंड; त्रिवार्षिक : 6 डालर या 3 पौंड।
चंदा एवं विज्ञापन तथा पत्रिका न मिलने की शिकायत भेजने का पता : व्यापार व्यवस्थापक, पटियाला हाउस, नई दिल्ली। ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें।

"... 'चौथा सप्तक' संपादित करके मैंने कोई अपराध नहीं किया है!..."

प्रश्न : 'चौथा सप्तक' पिछले दिनों आलोचना का एक बड़ा मुद्दा रहा और अधिकांश रचनाकारों या इसके आलोचकों ने इसका बहुत स्वागत नहीं किया और यह भी कहा गया कि हिंदी नई कविता के आंदोलन का श्रेय केवल नागार्जुन, 'मुक्तिबोध' या 'धूमिल' को दिया जा सकता है। आपके संपादन के विरोध में जो कुछ कहा गया, वह यह था कि इतने दिनों के बाद 'चौथा सप्तक' का प्रकाशन संभवतः उन्हें इस नई कविता के आंदोलन से जोड़ने या जुगाए रखने का उपक्रम था। तार सप्तकों की परंपरा में यह संकलन **तार सप्तक** के कृती संपादक की चुकी हुई संवेदनशीलता या बुड़भस का ही एक प्रमाण या निदर्शन है—उपलब्धि नहीं।

अज्ञेय : आप मुझे बताइए कि इस संकलन में प्रकाशित कविताएं—कविताएं हैं या नहीं। आज के कविकर्म के संदर्भ में—मुझे इन कवियों का स्वर अधिक सार्थक जान पड़ा, इसलिए उन्हें **चौथा सप्तक** में सम्मिलित किया गया। मैंने **चौथा सप्तक** की भूमिका में—इन सारी बातों को पहले ही स्पष्ट किया है—आपने भी देखा होगा। वैसे, मैं यह मानता था कि **तीसरा सप्तक** के बाद इस तरह के संकलन या आयोजन की बहुत आवश्यकता नहीं रही। **चौथा सप्तक** की आलोचनाओं को मैंने देखा है। कुछ लोग मात्र विरोध के लिए ही विरोध करते हैं। संकलन के माध्यम से किसी की रचना पढ़नी भी चाहिए—यह उनके लिए मुसीबत है। न पढ़ना पड़े, तो शायद दूसरी मुसीबत यह होगी कि 'अज्ञेय' ने उसे संपादित किया है।

प्रश्न : इन आलोचनाओं को पढ़-सुनकर मैं बहुत प्रसन्न हूं, ऐसी बात नहीं। लेकिन जो रचनाएं **चौथा सप्तक** में संकलित हैं, उनके बारे में आम शिकायत यह है कि ये आजकल की कविताओं का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। इसी प्रकार, स्वदेश भारती, सुमन राजे या अवधेश कुमार ने हिंदी कविता के क्षेत्र में कोई साख या पहचान नहीं बनाई है।

अज्ञेय : **चौथा सप्तक** में जिन कवियों की रचनाओं को संकलित किया गया है, वे स्वतंत्र रूप से अलग-अलग संग्रहों में छपकर सामने आते, तो शायद उनका और मेरा विरोध नहीं हुआ होता। जहां तक कवि या कविता की पहचान की बात है, मैं अपने मंतव्य किसी पर थोपना नहीं चाहता। मैंने 'भूमिका' में अपनी राय जाहिर कर दी है और कुल मिलाकर **चौथा सप्तक** संपादित कर मैंने कोई अपराध नहीं किया है। प्रोत्साहन के शब्द लोगों के पास नहीं रह गए। विरोध करना पड़े, तो सब तैयार रहते हैं।

प्रश्न : आपके पास इस प्रकार के संकलन या चयन की क्या कसौटियां होती होती हैं? क्या कवि आपको सीधे ही पांडुलिपि भेज देते हैं या फिर पत्र-पत्रिकाओं से आप रचनाएं चुनते हैं या कवि को आप स्वयं

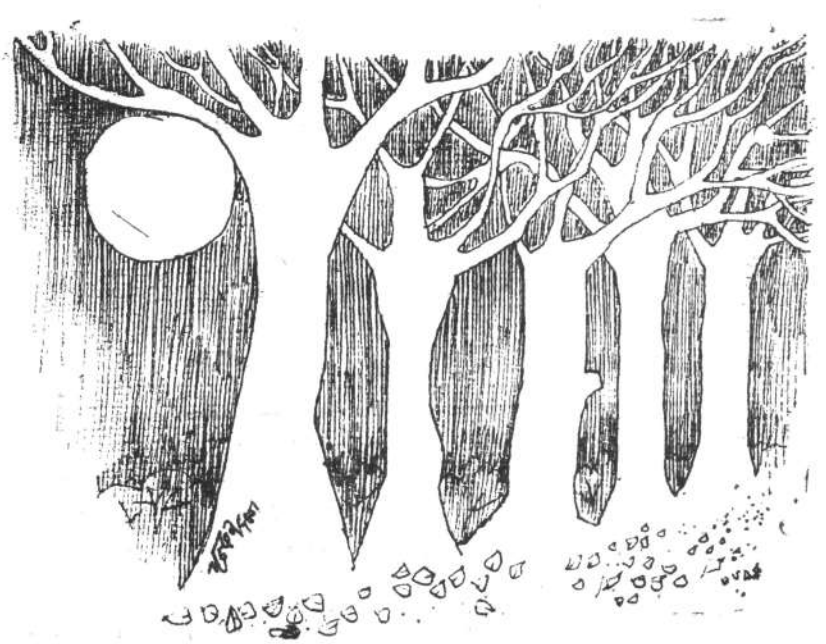

'अज्ञेय' का व्यक्तित्व जितना विवादास्पद रहा है, उससे भी अधिक विवादास्पद सिद्ध हुआ उनके द्वारा संपादित काव्य-संकलन 'चौथा सप्तक'। कुछ लोगों ने 'चौथा सप्तक' की उपेक्षा करने के बहाने 'अज्ञेय' की उपेक्षा करने का बीड़ा उठाया। स्थिति इतनी दुर्भाग्यपूर्ण रही कि 'आजकल' ने जब 'चौथा सप्तक' पर खुली बहस आयोजित की, तो उसके विरोध में भी अनेक स्वर सुनाई पड़े। एक पक्ष का कहना था कि 'चौथा सप्तक' जैसे महत्वहीन संकलन को इतना उछालने की क्या आवश्यकता थी? दूसरे पक्ष का आरोप था कि 'आजकल' ने इन्हीं लोगों से समीक्षाएं क्यों लिखवाई?

इसी संदर्भ में 'अज्ञेय' से बातचीत कर रहे हैं **रणजीत कुमार साहा**। इस बातचीत को टेपरिकार्ड किया गया था।

आमंत्रित करते हैं—उनकी रचनाओं के लिए?

अज्ञेय : इन सभी विधियों से। आरंभ से ही इस तरह का अभ्यास रहा है—**प्रतीक** के जमाने से। नए-पुराने कवियों से भी हर तरह का परिचय रहा है—कुछ की प्रकाशित रचनाएं पढ़कर, कुछ की अप्रकाशित पांडुलिपि देखकर। अपने समवयसियों में शायद मैं ही ऐसा हूं जो आज भी नए रचनाकारों की अप्रकाशित रचनाएं सबसे अधिक पढ़ता हूं। यह मेरी चर्या रही है; रुचि भी और सुख भी। कुछ मित्र कहते भी हैं: "दूसरों के लिखे हुए से घिरे रहने का क्या लाभ है? अपना लिखो-पढ़ो।" शुक्र है, मैं दूसरों की रचनाओं को पढ़ना मुसीबत नहीं मानता। मैं, क्योंकि **चौथा सप्तक** जब निकला, इससे पहले पांच वर्ष से **नया प्रतीक** का भी संपादन कर रहा था, इसलिए काफी रचनाएं मेरे पास आती रही थीं। अब सबकी सब तो वहां प्रकाशित नहीं हो पाती थीं। जो अच्छी होतीं, वह भी। और इसके अलावा जो कुछ दूसरी पत्र-पत्रिकाओं में छपती हैं, वे भी पढ़ता रहता हूं। प्रयत्न करता हूं कि जो भी अच्छा है, उसको सामने लाने में योग दूं। यह तो स्पष्ट है कि जो मेरी समझ में अच्छा है, वह समझ गलत तो हो ही सकती है। और अब यह भी जानता हूं कि एक कठिनाई जो कम-से-कम पहले उतनी तीव्र नहीं थी, अब बढ़ गई है। वह यह कि लोग जो मेरा विरोध करना चाहते हैं, वह जैसी आज की मनोवृत्ति है, उसमें जिसकी मैं प्रशंसा करता हूं, उससे ही शत्रुता निबाहते हैं।

प्रश्न : चौथा सप्तक के आलोचकों का यह भी तर्क रहा कि इन सप्तकों के अब तक लगभग अट्ठाइस कवि हो गए···तो उनमें से ही किसी कवि ने संपादन का भार क्यों नहीं संभाला? क्या वजह थी कि 'अज्ञेय' जी को ही संपादन का भार बार-बार संभालना पड़ा? क्या वह नई कविता के आंदोलनों से या उसका कवि-मसीहा बनकर जुड़े रहना चाहते हैं?

अज्ञेय : कोई वजह नहीं थी! कोई भी चाहे संपादन कर सकता है। 'अज्ञेय' जी में और ऐसे संभाव्य संपादकों में थोड़ा-सा अंतर है कि 'अज्ञेय' जी परिश्रम करने को तैयार हैं और जो अच्छा काव्य जहां उनको दीखता है, उसकी प्रशंसा करने को तैयार हैं और उस प्रशंसा के लिए अगर उनको कोई दंड मिलता है तो भोगने को भी तैयार हैं। ऐसे संपादक और हों, तो मैं समझता हूं कि हमारे आज के पाठक-समाज का सौभाग्य!

प्रश्न : क्या यह अच्छा नहीं होता कि **तार सप्तक** या सप्तक परंपरा की संपादित कृति के मुकाबले कविता वार्षिकी या कोई नियमित प्रकाशन की योजना सामने हो—जैसी कि **नया प्रतीक** की रही? तब समकालीन कविता की प्रवृत्तियां अधिक प्रामाणिकता से रेखांकित हो पातीं। इसमें क्या कठिनाई है?

अज्ञेय : मैं न तो इसका विरोध करता हूं, न इसमें मेरी ओर से कोई बाधा है। और वैसी निकलती ही रहती हैं और न मैं उनकी उस ढंग की अलोचना ही करता हूं, जैसी **चौथा सप्तक** की हो रही है। जहां तक कविता वार्षिकी या त्रैमासिकी की योजना है, वह कोई नई बात नहीं। यह संभव भी है। **प्रतीक** या **नया प्रतीक** में यह सब—जहां तक संभव था—होता ही रहा। पर आप ही बताइए—क्या हर वर्ष या हर महीने नियमित रूप से ऐसे तीन-चार महत्वपूर्ण कवि और उनकी कविताएं मिल ही जाएंगी?···

प्रश्न : लेकिन जो संपादित कृतियां आ रही हैं, विशेषकर काव्य की और सप्तकों की परंपरा की, उसमें कवि के आत्मकथ्य को कितना महत्व दिया जाना चाहिए? रचना के संदर्भ में और उसकी आलोचना के संदर्भ में?

अज्ञेय : मैं तो बराबर लिखता आया हूं कि कवि को यानि कृतिकार के कथ्य को कोई महत्व नहीं देना चाहिए। रचना में जो है, उसी को महत्व देना चाहिए। □

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना :

अपनी पचासवीं वर्षगांठ पर

मेरे पिता ने
मुझे एक नोटबुक दी
जिसके पचास पेज
मैं भर चुका हूं।

जितना लिखा है मैंने
उससे अधिक काटा है
कुछ पृष्ठ आधे कोरे छूट गए हैं
कुछ पर थोड़ी स्याही गिरी है।
हाशिए पर कहीं
सूरतें बन गई हैं
आदमी और जानवरों की एक साथ।
कहीं धब्बे हैं गंदे हाथों के
कहीं किसी एक शब्द पर
इतनी बार स्याही फिरी है
कि वह सलीब जैसा हो गया है।
इस तरह
मैं पचास पेज भर चुका हूं।

इसमें मेरा कसूर नहीं है
मैंने हमेशा कोशिश की
कि हाथ कांपे नहीं
इबारत साफ-सुथरी हो
कुछ लिखकर काटना न पड़े
लेकिन अशक्त बीमार क्षणों में
सफेद पृष्ठ काला दीखने लगा है
और शब्द सतरों से लुढ़क गए
कुछ देर के लिए जैसे
यात्रा रुक गई।

अभी आगे पृष्ठ खाली हैं—
निचाट मैदान
या काले जंगल की तरह।
बर्फ गिर रही है
मुझे सतरों पर से उसे हटा-हटाकर
शब्दों का यह ठेला खींचना है
जिसमें वह सब है
जिसे मैं तुममें से हर एक को
देना चाहता हूं।
पर तुम्हारी बस्ती तक पहुंचूं तो।

मजबूत है सीवन इस नोटबुक की
पसीने या आंसुओं से
कुछ नहीं बिगड़ा।
यदि शब्दों की तरह कभी
यह हाथ भी लुढ़क गया
तो इस वीराने में
तुम इसके जिल्द की
टिमटिमाती रोशनी टटोलते
ठेले तक आना
और यह नोटबुक ले जाना
जिसे मेरे बाप ने मुझे दी थी
और जिसके पचास पेज
मैं भर चुका हूं।

लेकिन प्रार्थना है
अपने झबरे जंगली कुत्ते मत लाना
जो वह सूंघेंगे
जो उन्हें सिखाया गया हो
वह नहीं
जो है।

तीन कविताएं

जंगल की याद मुझे मत दिलाओ

कुछ धुआं
कुछ लपटें
कुछ कोयले
कुछ राख छोड़ता
चूल्हे में लकड़ी की तरह मैं जल रहा हूं
मुझे जंगल की याद मत दिलाओ।

हरे-भरे जंगल की
जिसमें मैं संपूर्ण खड़ा था
चिड़ियां मुझ पर बैठ चहचहाती थीं
धामिन मुझसे लिपटी रहती थी
और गुलदार उछलकर मुझ पर
बैठ जाता था।

जंगल की याद
अब उन कुल्हाड़ियों की याद रह गई है
जो मुझ पर चली थीं
उन आरों की जिन्होंने
मेरे टुकड़े-टुकड़े किए थे
मेरी संपूर्णता मुझसे छीन ली थी।

चूल्हे में
लकड़ी की तरह अब मैं जल रहा हूं
बिना यह जाने कि जो हांडी चढ़ी है
उसकी खुदबुद झूठी है
या उससे किसी का पेट भरेगा
आत्मा तृप्त होगी।
बिना यह जाने
कि जो चेहरे मेरे सामने हैं
वे मेरी आंच से
तमतमा रहे हैं
या गुस्से से,
वे मुझे उठाकर चल पड़ेंगे
या मुझ पर पानी डाल सो जाएंगे।

जंगल की याद मुझे मत दिलाओ

एक-एक चिनगारी
झरती पत्तियां हैं
जिनसे अब भी मैं चूम लेना चाहता हूं
इस धरती को
जिसमें मेरी जड़ें थीं।

रिश्ते

खुद कपड़े पहने
दूसरे को कपड़े पहने देखना
खुद कपड़े पहने
दूसरे को कपड़े न पहने देखना
खुद कपड़े न पहने
दूसरे को कपड़े न पहने देखना
तीन अलग-अलग रिश्ते बनाना है।

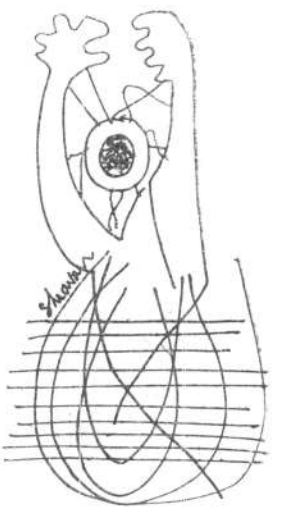

इनमें से
पहले से तुम्हें मन बहलाना है
दूसरे को खोजने जाना है
तीसरे के साथ मिलकर
क्रांति और सृजन का परचम उठाना है।

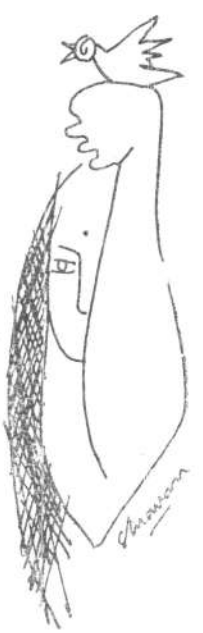

आत्म कथ्य

महीपसिंह ने अपने कहानी-संग्रह **कितने संबंध** (लिपि) के विषय में लिखा है : 'कितने संबंध' की नायिका श्रीमती खन्ना (असली नाम कुछ और) ने, मुझे पता नहीं किन क्षणों के दबाव में, मुझे अपना भाई बना लिया था। यह भी सच है कि वह मुझे कभी अच्छी नहीं लगीं। पर भाई का रिश्ता मैं उनसे किसी तरह निभाता रहा। यह कहानी लिखना मैं वर्षों तक टालता रहा। एक अजीब-सी दुविधा रही। कहानी में मुझे अपने मन का सच लिखना पड़ेगा। और यदि संयोग से उन्होंने यह कहानी पढ़ ली, तो उनके इस सुखद भ्रम को कितनी गहरी ठेस लगेगी ···मेरा क्रूर सच उनके सम्मुख झूठ का कितना बड़ा अंबार खड़ा कर देगा। वर्षों तक इस झूठ को अपने मन में दबाए रखने के बाद मैंने यह कहानी लिख दी है। कितने ही लोगों ने यह कहानी पढ़ी है, लेखक के नाते यह भी चाहता हूं कि और भी कितने लोग यह कहानी पढ़ें, परंतु उससे अधिक यह चाहता हूं कि मेरी मुंहबोली दीदी यह कहानी न पढ़ें। इस कहानी को लिखने के बाद मुझे उनसे मिलते हुए संकोच होने लगा है। यदि वह इसे पढ़ लेंगी, तो मुझसे मेरा सच नहीं सहा जाएगा।

इसी संग्रह में एक और कहानी है 'सन्नाटा'। उसकी नायिका दिवा ने जब यह कहानी पढ़ी थी, तो मुझसे नाराज होती हुई बोली थी, "आखिर, तुमने सारी दुनिया को यह बता ही दिया कि मैं सुबह-शाम सिगरेट पीती रहती हूं।" अपना सच पढ़कर दिवा दुःखी नहीं थी, पर श्रीमती खन्ना अपना सच बर्दाश्त नहीं कर पाएंगी, यह मैं जानता हूं।

(**कितने संबंध** की समीक्षा देखें पृष्ठ 42 पर)

कमला रत्नम् ने **लाओस में रामकथा** (मानस संगम) के विषय में लिखा है : बचपन से संस्कृत भाषा और उसका साहित्य मेरी आत्म-विस्मृति के कारण रहे हैं। संस्कृत साहित्य ने मुझे विश्व में व्याप्त एक तत्व की ओर आकृष्ट किया। जिससे मुझे लगा कि विश्व-कथा-साहित्य में एकमात्र रामायण ग्रंथ ऐसा है जो देश-काल से मुक्त मानवता के मन को छूता है। इस अनुभव का सूत्रपात बड़े आकर्षक ढंग से हुआ। विदेश-सेवा के अंतर्गत मैं अपने राजदूत पति के साथ लाओस गई हुई थी। फ्रांसीसी उपनिवेशवादियों द्वारा तहस-नहस किए जाने के बाद, लाओस को स्वतंत्र हुए अभी कुछ ही समय हुआ था और उसकी सारी शक्ति अर्थ-व्यवस्था तथा अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को सुधारने में लगी थी।

लुआङ्-प्रवाङ् के भव्य राजप्रासाद में **महाराजा सवंग वत्थन** ने बड़ी आत्मीयता से हमारा स्वागत किया। महाराजा और उनके कर्मचारियों की औपचारिक पोशाक, कांचीपुरी-कौशेय को भी लज्जित करने वाली उनकी रेशम की चमचमाती रंगीन धोतियां और स्वर्णिम यज्ञोपवीत और भारतीय पद्धति के स्वर्णालंकारों को देखकर (जिन्हें वे अपने परिधान के सबसे ऊपर धारण करते हैं), हमें लगा कि चाहे भूगोल परिवर्तित हो गया हो, परंतु हम अपने ही देशवासियों के बीच आ गए हैं। इसी राजप्रासाद में हमें एक बार राजकीय उपासना-गृह में देव-अर्चना करने का अवसर मिला। यह अवसर था **राजकुमारी डाला** का विवाह। (डाला तारा का ही लाव-रूपांतर है)। विवाह की यज्ञभूमि तथा संबंधित धार्मिक कृत्यों और भारतीय विवाह-पद्धति में बहुत समानता थी। विवाह-संस्कार के बाद संध्या-समय छत्र-चंवरधारी महाराजा और उनके परिवार की उपस्थिति में सांस्कृतिक कार्य-क्रम प्रस्तुत किया गया, जिसका प्रमुख अंग लाव-रामायण का नृत्य शैली में प्रस्तुतीकरण था। संस्कृत-मिश्रित लाव शब्दावली में कर्णमधुर संगीत के साथ-साथ राजकीय 'नाट्यशाला' के विद्यार्थियों और स्वयं राजपुत्रियों ने रामायण का सीताहरण प्रसंग और अशोक-वाटिका में हनुमान की सीता से भेंट को प्रस्तुत किया। बाद में महाराजा ने हमें बताया कि रामायण ग्रंथ लाव-भाषा में उपलब्ध है (यद्यपि यह उस समय 1960 तक प्रकाशित नहीं हुआ था) और राजधानी के मंदिरों की भित्तियों तथा अन्य कलाकृतियों के रूप में यह लाओस में अनेक प्रकारों से प्रचलित है, तथा रामायण-नृत्य की शिक्षा नियमित रूप से विद्यार्थियों की दी जाती है। महाराजा ने हमें अपना निजी अध्ययन कक्ष भी दिखाया जिसमें प्राचीन वेदों, उपनिषदों, गीता आदि से लेकर महादेवन, मुखर्जी और राधाकृष्णन जैसे आधुनिक दार्शनिकों की कृतियां भी सुरक्षित थीं। महाराजा की दिलचस्पी दर्शनशास्त्र में अधिक थी। उनकी पुस्तकों में जगह-जगह उनके हाथ के बनाए चिह्न लगे हुए थे। मेरे विशेष अनुरोध पर महाराजा ने अपने सांस्कृतिक विभाग के एक वरिष्ठ अधिकारी को हमें **लुआङ्-प्रवाङ्** तथा प्रशासनिक राजधानी वियेनत्यान के मंदिरों में अंकित रामायण-चित्र दिखाने का प्रबंध किया। उन्होंने अपना निजी नवीन मंदिर 'वाट माइ' भी दिखाया जहां नव-

निर्मित छतों और शहतीरों पर सुनहले रंग से रामायण के दृश्य और फल-फूल अंकित किए जा रहे थे।

दक्षिण-पूर्व एशिया की चप्पा-चप्पा भूमि रामायण और महाभारत की कथा-स्मृतियों से भरी पड़ी है। यहां इन दोनों महाकथाओं की प्रभूत कला-सामग्री अभी तक सुरक्षित है। डच-फ्रांसीसी, और इधर कुछ अमेरिकी और मेक्सिको के विद्वानों ने इस सामग्री का संग्रह किया है। परंतु गंभीर और दृढ़ भारतीय दृष्टि अभी इस ओर नहीं गई है। लाओस जाने से पहले स्वर्गीय आचार्य रघुवीर ने हमसे रामायण-संबंधी खोज करने के लिए कहा था। कुछ उनकी प्रेरणा से और कुछ अब महाराजा सवंग वत्थन की आत्मीय अनुकंपा से लाओस के मंदिरों की चित्रवीथियों में घूमते मुझे लगा, जैसे सदा हँसते, भोले लाव-मनों की पराधीनता-व्यथा मानवता के घनीभूत मन राम और सीता और हनुमान से एकाकार होकर इन चित्रों में उतर आई है। राम और रामायण के अन्य पात्र तथा स्थान उनके भी उतने ही अपने हो गए हैं जितने वे हमारे हैं। इस अनुभव से मेरे मन में अव्यक्त सौंदर्य और एकात्मता की एक कसक-सी उठी जो देश, काल, भाषा आदि की परिधियों को तोड़कर बाहर आने को व्यग्र हो उठी। तभी मैंने लाव-निवासियों की हँसी और आंसुओं को, उनके निश्छल सात्विक अंतर्मन को, उन्हीं के द्वारा बनाए चित्रों के माध्यम से शब्दों में बांधने का प्रयास किया। (लाओस में रामकथा की समीक्षा देखें पृष्ठ 41 पर)

मधुरेश ने अपनी पुस्तक **क्रांतिकारी यशपाल : एक समर्पित व्यक्तित्व** (मैकमिलन) के संदर्भ में लिखा है : प्रेमचंदोत्तर हिंदी कथा-साहित्य में यशपाल कदाचित सर्वाधिक महत्वपूर्ण लेखक हैं। यह निश्चय ही विडंबनापूर्ण स्थिति है कि आज तक उनके विचार-साहित्य—विचारों और कला—का कोई सम्यक मूल्यांकन उपलब्ध नहीं है। यशपाल पर ऐसे किसी संकलन का सवाल आज से प्रायः पंद्रह वर्ष पूर्व मन में आया था, जब उन पर मेरी पहली आलोचनात्मक टिप्पणी 'यशपाल :

आत्म-कथ्य

संतुलनहीन समीक्षा का एक प्रतीक' लहर के दिसंबर 1962, अंक में प्रकाशित हुई थी। लेकिन मेरे और यशपाल जी, दोनों के ही इस दिशा में बहुत गंभीर न होने के कारण वह टलता ही रहा।··· बहुत विलंब से ही सही, अब इस रूप में इसे प्रकाशित देखकर मुझे हार्दिक सुख और संतोष मिला है। आजकल संपादित पुस्तकों का जैसा प्रचलन है, उसमें व्यावसायिक दबावों के कारण, किसी ऐसी पुस्तक के खो जाने का खतरा भी हर समय बना रहता है जिसके लिए वाकई गंभीर तैयारी की गई हो। प्रकाशक से हुए अनुबंध के अनुसार पांडुलिपि अक्तूबर, 1977 में देने की बात थी, ताकि संकलन यशपाल जी की प्रथम पुण्यतिथि पर प्रकाशित हो सके। लेकिन जो और जैसे लेख योजना बनाकर लिखवाए जाने थे, वह सारा काम ढाई वर्ष में भी बमुश्किल पूरा हो सका। संकलन के लिए कुछ पूर्व प्रकाशित लेख भी लिये गए हैं, क्योंकि इस संकलन को मैं इस दृष्टि से भी एक प्रतिनिधि संकलन बनाना चाहता था कि इसके आधार पर यशपाल संबंधी आलोचना के रुख और रवैये को समझा जा सके। इसमें कई लेख ऐसे हैं जिनकी स्थापनाओं से मेरी घोर असहमति है। लेकिन आलोचना के समकालीन परिदृश्य की संपूर्णता की दृष्टि से वे मुझे जरूरी लगते हैं। उनकी रोशनी में कदाचित ऐसा कोई निष्कर्ष निकाल सकना भी आसान हो कि किसी लेखक को उसकी विचारधारा से अलग करके उसके साथ न्याय कर पाना संभव ही नहीं है।···

'आजकल' की दाम-वृद्धि

नवंबर 1980 अंक से 'आजकल' के दाम में थोड़ी-सी वृद्धि की जा रही है। पर 31 अक्तूबर, 1980 तक ग्राहक बनने वाले पाठक पुराने दामों पर ही 'आजकल' प्राप्त कर सकते हैं। कैसे ? विवरण देखें पृष्ठ 33 पर।

फैक्टरी को गन्ना देने की पर्ची तो उसे चार दिन पहले के लिए मिली थी, पर उस समय वह गन्ना न गिरा सका था···किसके सहारे गन्ना ले जाता··· न उसके पास 'डनलप' गाड़ी ही है और न पूरे बैल···रामबहलवा झूठ थोड़े ही कहता है। बिना गोई के धरती विधवा हो जाती है···एक बैल से कुछ भी तो काम नहीं निकलता···

'ये नथुनिया भी डबल हरामी है··· पार साल मेरा बैल जोतता रहा, फिर मौके पर धता बता दिया···आजकल में बुवाई का टेम निकल गया, 'टेपुवा' परती छोड़ना पड़ गया।···नथुनी ही क्या, जितने हैं, सब चार सौ बीस हैं। कोई कम, कोई ज्यादा···जब पानी बरसेगा और 'ओठ' का टेम आएगा, तो बैल ले जाएंगे और जब खेत सुसरा कंकड़ हो जाएगा, तो हमको 'ओहजी' देंगे···'ओठ' होने के समय कोई ओहजी नहीं देता। बनते सभी धर्मावतार हैं··· ये ढाई बीघे ऐसे गले पड़े हैं कि न निगलते बनते हैं और न उगलते···साल-भर का अरझठा, फिर भी फाके···इससे अच्छा तो है, शहर में रिक्शा खींचें। बच्चों का जी तो जिएगा···बैल मर गया, खाद नहीं पड़ी, शिवचरण बाऊ

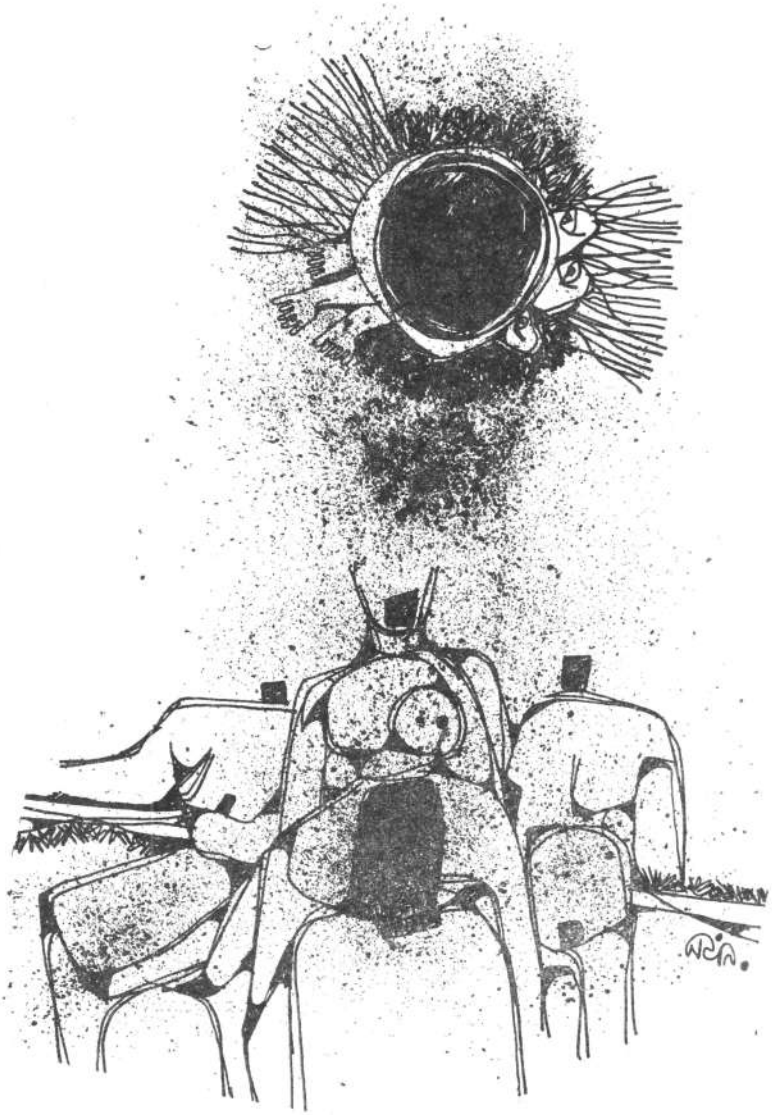

यहां तौल सही होता है !

दामोदर दत्त दीक्षित

सुरग में चूतर हिलगाए हैं। इन सबसे तो फुर्सत मिले···धरती माता, तुम भी अजीब हो···तुम तो मां हो। तुम्हें तो गरीब-दुखियारों का खयाल रखना चाहिए। पर तुम भी बड़कअों का साथ देती हो···पिछले साल शिवचरण बाऊ ने 'बेलवा' में कितना गन्ना पैदा किया था। पर तुम भी क्या करो ?··· अपनी तकदीर ही खोटी है···जब समय पर बुवाई नहीं होगी, खाद-पानी नहीं मिलेगा, तो पैदा होगा क्या, खाक···?'

फर्राटे भरती कार के अचानक झटके और ब्रेकों की कर्कश चरमराहट के साथ रुक जाने पर मैकू की मानसिक यात्रा भंग हो गई। उसे लगा कि कार वाला ऊपर चढ़ा देगा। तब तक एक चेहरा कार से बाहर निकला और बोला, "देखो अभिजित, अभी दूर से जो चार दीए चमकते दीख रहे थे, वे इन बैलों की आंखें थीं। असल में बैलों की आंखों में फासफोरस होता है, जो रात को चमकता है।"

"हाऊ कोल्ड ! उई, बंद भी कीजिए। शीशा बंद किए-किए दिखा देते, तो क्या हो जाता ? कितनी ठंड है ! ठंड लग जाएगी, तो क्या होगा ?" एक कंपनयुक्त जनानी आवाज आई।

शीशा बंद हो गया, कार फिर फर्राटे भरने लगी। उसे अब महसूस हुआ कि ठंड है। कार वाला साहब इतना बड़ा साहब है कि उसकी मेम को, जो निश्चित ही गोरी और चिकनी होगी, एक सेकेंड की सर्दी बर्दाश्त नहीं, और अब बीड़ी पी जानी चाहिए।

तारकोल की सड़क के किनारे बनी 'सी०सी० ट्रैक' पर चलती 'डनलप गाड़ी' की चरमर-चरमर फिर स्थितप्रज्ञ नीरवता को निश्चित लय के संगीत से रिझाने का दुस्साहस करने लगी। वह पुनः अपने विचार सागर में खो गया···ये मोटर-ठेले वाले क्यों इतना तेज चलाते हैं? अरे, नासमुझ बच्चे हैं। गफलत में सड़क पर चले जा रहे हैं, तो उनको कुचल दो और आगे बढ़ जाओ। देहात के लोगों को नियम-कानून, दायां-बायां क्या मालूम? अगर मालूम हो जाए, तो इससे क्या फर्क पड़ता है? दूसरे की जान को चिरिया-चमक्कों, भुनगों से भी बदतर समझने वाले ये लोग, ऊपर गाड़ी जरूर चढ़ाएंगे···'

□ □ □

कांटे, यानी चीनी मिल के गन्ना क्रय-केंद्र पर वह पहुंचा, तो पास ही थाने में चार का ठनाका हुआ। वह गाड़ी के नीचे मुकुड़ी मारे लेट गया कि नींद आ जाए, तो कुछ देर तक सो ले, पर नींद नहीं आई। वह उठा और पास बिखरी सूखी पत्तियों को इकट्ठा कर अलाव जलाने लगा। पत्तियों की चरमराहट से कांटा बाबू की नींद उचट गई और उन्होंने तंबू से 'हुक' की तरह, थोड़ी-सी गर्दन निकालकर कहा "कौन है, बे?"

"मोएं हुजूर, करमहा से···" वह बोला।

"क्यों नींद तोड़ रहा है, बे? भोर से ही भेजा खाना शुरू कर दिया। शांती से बैठता क्यों नहीं?"

"मैं कहूं, हुजूर, शीत बड़ा है। थोड़ा तपता बार दिया।"

"अबे, चुप बे! तपता बार दिया!"

अंधेरा छंटने लगा, तो सड़क और सड़क के किनारे एक बाग आहिस्ता से उभरने लगा। बाग के सामने एक कांटा लगा था, वैसा ही जैसा कि 'धर्मकांटा', जो वजनी चीजों को तोलने के लिए शहरों में लगा रहता है। कांटे के एक तरफ 'ऊपरपाठ' गन्ने से भरी, पंक्तिबद्ध गाड़ियां खड़ी थीं, जिनके ऊपर उठे जुए तोपों की मुद्रा में, आसमान में निशाना 'टन्नाते' प्रतीत हो रहे थे। पास ही पेड़ों से बंधे बैल, जो सर्दी से सिहर रहे थे, पैरा टूंग रहे थे तथा घंटियां बजाकर प्रातःवंदन कर रहे थे। पास ही हैंडपाइप और टूटी हुई दो नांदें थीं। हैंडपाइप इसलिए ठीक हालत में था कि क्रयकेंद्र के स्टाफ को भी पानी की जरूरत पड़ती थी और नांदें इसलिए टूटी थीं कि क्रयकेंद्र के स्टाफ में कोई बैल न था।

एक-एक कर गाड़ीवान गाड़ी के नीचे से निकलते गए और दिशा मैदान की ओर बढ़ते गए। एक गाड़ीवान फुर्ती से नीम के पेड़ पर चढ़ गया। कई टहनियां तोड़कर नीचे गिरा दीं। बारी-बारी से लोग आते गए और टहनियां अरोंछकर दातौन करने लगे। हैंडपाइप से सबों ने हाथ-मुंह धोया और पुआल जलाकर रात-भर की सर्दी देह से बाहर निकालने लगे।

चौकीदार ने कांटे की मड़इया में, जिसके भीतर कांटाबाबू काम करते थे, झाड़ू दी व मेज-कुर्सी तथा कांटे की सफाई की। तौल से संबंधित कागजात मेज पर तथा चार क्विंटल के बांट तंबू से निकालकर बाहर रख दिए। लकड़ी के 'टाइपोड' के सहारे 'दंडतुला' लटका दी गई। यह दंडतुला इस प्रयोजन से लगाई गई थी कि कभी कांटा खराब हो, तो बाटों के सहारे इस पर गन्ने की तोल की जा सके अथवा मशीनी कांटे की तोल पर किसी किसान को संदेह हो तो वह गन्ने को इस पर तोलकर जांच कर सके। पर यह 'दंडतुला' अभी तक कौमार्य-व्रत धारण किए थी। आज तक इस पर कभी गन्ना तोला नहीं गया था।

इधर यह सब होता रहा, उधर पुखराज आहिस्ता से नीम की ठुन्नी पर आ जमा और थोड़ी ही देर में चारों तरफ पिघल गया। पास ही एक मोर पंख खोल नाचने लगा, जिससे लगा कि बीसियों नीले चांद वृत्ताकार निकल आए। अलाव का धुआं भी 'टेपरिंग' स्तंभ का रूप लिये उड़ा जा रहा था। ठिठुरन अब भी निःशब्द चीख रही थी, तथा अस्तित्व का अहसास बैलों की बजती घंटियों से हो रहा था।

सुबह कांटाबाबू साइकिल पर बैठ कहीं चले गए। परछाईं बिला जाने तक की धूप हो आई, तो भी कांटाबाबू नहीं लौटे और तोल बंद रही। मैकू की बेताब, कुलबुलाती आंतें रिरियाने लगीं और वह चिउड़ा पानी में मीसकर खाने लगा।

एक गाड़ीवान ने तब तक चौकीदार से पूछा, "हे बाबू, कांटाबाबू कब आएंगे? हमारा गन्ना कब तौला जाएगा? बड़ा अबेर हो रहा है!"

"क्यां मैं कोई भड़ुरी हूं जो बता दूं कि कांटाबाबू कब आएंगे। जब

कांटाबाबू आएंगे, तो तौल होगी ही। चुप नहीं बैठता। इंकुआयरी करता है।" चौकीदार ने जवाब दिया।

तभी एक गाड़ीवान दबी जबान में दूसरे से बोला, "हमारे प्रधान जी कह रहे थे कि नियम है कि कांटाबाबू को दिन में कांटा छोड़कर कहीं जाना न चाहिए।"

चौकीदार के कान में यह बात रिस गई। बोला, "ए हे हे, नियम है? आने दो बाबू जी को। अभी तुम्हारा नियम निकला जाता है।"

तब तक कांटाबाबू साइकिल से आते दिखे। उतरते ही चौकीदार ने साइकिल थाम ली और उसे मड़इया के सहारे टिका दिया। फिर चौकीदार बोला, "बाबू जी, ये पग्गड़ वाला जो है, ये कानूनची है। आप भी जरा इसको अपना कानून पढ़ा दो।"

"क्या बात है?" कांटाबाबू डहके।

"कह रहा था कि नियम है कि कांटाबाबू को कांटा छोड़कर दिन में कहीं जाना न चाहिए।"

"अच्छा, अच्छा! तो निकाल दो इसकी गाड़ी लाइन से। चार दिन तक बैठाऊंगा, तब इसे असली कानून मालूम होगा।"

गाड़ीवान "बाबू, बाबू साहब, साहब" कहकर माफी मांगता ही रहा, पर चौकीदार ने उसकी गाड़ी धकेलकर अलग खड़ी करवा दी।

कांटाबाबू ने धूप में चारपाई छुड़वाई और लेट गए। सिंदूरी दुपट्टा पश्चिम में लहराने लगा, तो एक गाड़ीवान ने कांटाबाबू से कहा, "बाबू, हमें बिसुनपुर जाना है। गाड़ी तौल दीजिए।"

"जा बे, खोपड़ी पर आकर खड़ा हो गया! गाड़ी आज नहीं तौली जाएगी।"

"अरे, सरकार, कल के आए हैं। तौल कर दीजिए।"

"कल के आए हो या पचास बरस के पहले के, तौल आज नहीं होगी।"

"आखिर हम भी तो जानें, क्या बात है?"

कांटाबाबू चारपाई पर एकदम से उठकर बैठ गए और उनके पान चबुलाते चेहरे पर सामंती मुद्रा कौंध आई, "जाता है कि नहीं। कह दिया एक बार, दिमाग खाए है। ट्रक नहीं आया है। जब ट्रक आएगा, तब तौल होगी। भाग, दिमाग न चाट।"

थोड़ी देर में फैक्टरी का केन मैनेजर आया। गाड़ीवानों ने उससे शिकायत की कि उनका गन्ना पड़ा सूख रहा है, तोला नहीं जा रहा है।

केन मैनेजर ने उन्हें हड़काते हुए कहा, "काहे को जल्दी मचा रखी है, रे।"

"जल्दी यह है, साहब, कि यहां हम और हमारे बैल भूखों मर रहे हैं। इतनी गर्मी में लोगों को कोई दया नहीं आती।" एक अफदाहट-भरे किसान नें जवाब दिया।

"अबे, चुप बे, बेकार बकवास लगा रखी है।"

"बकवास क्या, साहब, नियम के हिसाब से यहा आने के दस घंटे के अंदर तौल हो ही जानी चाहिए। यहां चौबीस घंटे से ऊपर हो गए। ट्रक न आने की जिम्मेदारी हमारी थोड़े ही है। हमारा तुलवाकर 'डम्प' करा दिया जाए। जब आपका ट्रक आ जाए, तो आप ढोते रहिएगा। हमें जल्दी है, हमें जाने दीजिए।"

केन मैनेजर उठा और उसने गाड़ीवान के ऊपर ताबड़तोड़ कई छड़ियां सड़का दीं। फिर भद्दी-सी गाली देते हुए उसने कांटाबाबू से कहा, "मत तौलना इसकी गाड़ी पांच दिन तक, सारी टिर्र निकल जाएगी।"

सारे लोग उस गाड़ीवान को बुरा-भला कहने लगे कि उसने अफसर से क्यों जबान लड़ाई और उसे अहसास होने लगा कि उसे नियम-कानून के रक्षक अफसर के सामने नियम-कानून की बात न करनी चाहिए थी।

अंधेरे ने प्रकाश को भगाकर जब एकछत्र साम्राज्य स्थापित कर लिया, तो कुछ गाड़ीवानों ने भौंरी सेंकना शुरू कर दिया और कुछ ने चिउड़ा मीसना। जिनका सामान खत्म हो गया था, वे भूखे ही सो गए। जो खुद भूखे सोए थे, उन्होंने भी अपने देश की परोपकार की परंपरा का पालन करते हुए अपने बैलों के लिए दूसरे गाड़ीवानों से पैरा मांग-मूंगकर व्यवस्था कर दी।

दूसरे दिन दोपहर को ट्रक आया। कांटाबाबू कांटे के पास बैठे। उनके पास सहकारी गन्ना समिति का लिपिक तौल पर निगरानी के लिए बैठ गया। कांटा बाबू तथा समिति-लिपिक ने कांटा चेक किए बिना कांटा निरीक्षण पंजिका में यंत्रवत प्रविष्टियां कर दीं कि जांच करने पर कांटा सही पाया गया। कांटा-बाबू ने आदेश दिया, तो पहली गाड़ी कांटे पर ढकिला कर लाई गई। लंगड़ी-मैन ने लंगड़ी अर्थात् टेक गाड़ी के नीचे लगा दी, जिससे कि गाड़ी का वजन पूरे कांटे पर आ गया। गाड़ीवान ने समिति-लिपिक को अपनी पर्ची दी। पर्ची से किसान का नाम, ग्राम इत्यादि मिल पर्ची पर अंकित कर लिये गए। फिर गाड़ी की तौल प्रारंभ हुई। तौल करने के बाद कांटाबाबू मिल पर्ची पर वजन अंकित करने लगे। गाड़ीवान ने पूछा, "बाबूजी, कितना हुआ?"

"उन्नीस दस।" कांटा बाबू बोले।

"पर बाबू, बीम तो बीस क्विंटल तीस के०जी० बता रहा है?"

"बीम के बतलाने से क्या होता है?"

"बाबू, बहुत नुकसान होगा।"

"गाड़ी तुलवाना है कि नहीं?"

गाड़ीवान डर गया। दो दिन से अधखाया रहा था, बैल भी भूखे थे। घर पर बीवी अकेली थी। खेत सूखा जा रहा था। उसमें पानी देना था। उसे डरना ही था। वह चुप हो गया। उसकी गाड़ी तुल गई। इसी तरह, और कई गाड़ियां तुल गईं।

थोड़ी देर बाद मैकू का नंबर आया। कांटाबाबू ने वजन बताया, "अठारह अस्सी।"

सही वजन बीस अस्सी था। वह बोला, "हजूर, मैं गरीब आदमी हूं। मर जाऊंगा। सबसे डेढ़ क्विंटल कटौती किया, मुझसे दो कर रहे हैं।"

"अबे, चुप रह। यहां आकर कटौती के वक्त सब गरीब ही बनके आते हैं। गंदे कपड़े पहनकर साले गरीब होने का बहाना करते हैं। देखा जाए तो अभी दसियों एकड़ जमीन निकलेगी।"

"नहीं, हजूर, बड़ा आदमी नहीं हूं। सिर्फ दो बीघे खेत है। छह परानी का पेट भरना है। दो क्विंटल का मतलब करीब पचीस रुपए हुए।"

"कटौती करवाता है कि नहीं।"

"हजूर···।"

"चौकीदार, इसकी गाड़ी हटाकर लगा दो सबके पीछे। ऐसे नहीं मानेगा। चार दिन तक सड़ेगा, तब राह पर आएगा।"

वह रिरियाता रहा कि उसकी गाड़ी कटौती के साथ तौल दी जाए, पर कांटा बाबू नहीं माना।

थोड़ी देर में एक जीप झटके के साथ कांटे के पास आकर रुकी। जीप के ड्राइवर ने अपने हक-हकूक के लिए दूर से हॉर्न से एक विशेष प्रकार का इशारा कर दिया, जिससे कांटे का स्टाफ चौकन्ना हो गया था और 'प्रिकाशनरी मेजर्स' लेने लगा था। कांटा-निरीक्षण पंजिका में दोपहर के बाद की प्रविष्टियां न थीं। जब तक साहब जीप से उतरे, तब तक प्रविष्टियां कर दी गईं।

जीप से एक हिप्पी साहब उतरा। उसने लपककर तुली हुई गाड़ी को रोका, जो ट्रक में गन्ना गिराने के लिए जा रही थी, और झपटकर पर्ची उसके हाथ से छीन ली। गाड़ी वाले से कहा गया कि गन्ने के वजन की दुबारा जांच के लिए वह गाड़ी को दोबारा कांटे पर लाए। साहब का अरदली अनपढ़ गाड़ीवानों पर लाल झब्बे का रौब मारता बैलगाड़ी को वापस लाने लगा और साहब गड़इया में जाकर कागज पत्तर देखने लगे। गाड़ीवानों ने गड़इया के सामने मजमा लगा दिया। साहब ने डांटा, "क्या भीड़ लगा रखी है? कोई जादू थोड़े ही हो रहा है! हटो, कम से कम रोशनी तो आने दो!"

गाड़ीवानों ने भीड़ में से एक दरवाजा खोल दिया, पर बाकी घेराव बना रहा।

कर्मचारियों की सूची जो टंगी हुई थी, वह धुंधली हो गई थी और उसके नीचे सक्षम अधिकारी के हस्ताक्षर मिट गए थे। साहब नाराज हुआ। गन्ना नियमावली फट गई थी। साहब ने उसे कांटाबाबू के मुंह पर पटकते हुए कहा, "ये क्या मजाक बना रखा है? नियमावली भी ठीक से नहीं रख सकते! नियमावली ऐसी जगह टांगी जानी चाहिए जहां से उसे किसान पढ़ सकें। इसे गड़इया में क्यों रखता है, बे?"

साहब कांटाबाबू को छोटी-छोटी बात पर बुरी तरह से डांट रहा था। गाड़ीवान खुश थे कि आज सेर को सवा सेर मिला है। वे इस साहब के रोल का खास नक्शा खा रहे थे। उन्हें यह नहीं मालूम कि इन साहब का 'साहब' इन्हें और बुरी तरह डांटता है। यही प्रथा है।

साहब ने गन्ने से भरी गाड़ी के वजन की दुबारा जांच की। एक क्विंटल चालीस किलोग्राम कम तोल की गई थी। साहब उछला, "यह बंगलिंग! तुमको तथा तुम्हारे मालिक दोनों को चक्की पिसवाऊंगा, तभी तो 'बंगलिंग' कम होगी।"

एक गाड़ीवान धीरे से दूसरे से पूछने लगा, "ये 'बंगली' क्या है?"

दूसरा बोला, "कमती तोल किया हैं, साइत इसी के बाबत साहब कुछ कह रहा है।"

कांटाबाबू हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाने लगा, "हजूर, गाड़ी ट्रक के पास पहुंच गई थी। वहां नीचे का गिरा गन्ना गाड़ी के ऊपर रख दिया गया। इसी से दुबारा तौल करने पर वजन में अंतर आ गया। वैसे, हजूर, मैं सही तौल करता हूं। आज तक कोई गड़बड़ी नहीं पाई गई।"

"पर आज तो पाई गई।"

"माई-बाप, गरीब आदमी हूं। मर जाऊंगा।"

तब तक दो आदमी सिर पर पगड़ बांधे, हाथ में बैलों को हांकने की छोर लिये आगे आ गए। उनमें से एक बोला, "हजूर, यहां तौल सही होती है। हम लोगों को तौल के बारे में कोई शिकायत नहीं। अभी हमीं ने चौकीदार से कहा कि ट्रक के पास गन्ना काफी गिर गया है। उसे किसी गाड़ी पर लाद दो। वहां से ट्रक पर लद जाएगा। सो, सरकार, इसने वह गन्ना इस गाड़ी पर···।"

गाड़ीवानों का भेष धरे ये कांटे के ही दो कर्मचारी थे।

चौकीदार ने समर्थन किया, "हां, मालिक हमने अपने हाथ से उठाकर गन्ना गाड़ी पर चढ़ाया है। तौल में कोई गड़बड़ी नहीं हुई।"

गाड़ीवानों को चूंकि अपना गन्ना कांटे पर आगे भी लाना था, इसलिए इस सफेद झूठ को सहते रहे।

साहब गड़इया से निकलकर कुछ फासले पर स्थित हैंडपाइप, नांद तथा दंडतुला चेक करने के लिए गए। हैंडपाइप के ऊपर लगी लोहे की छड़ ढीली थी तथा नांद टूटी थीं। साहब ने इनके लिए भी कांटाबाबू को फटकारा। लौटते समय कांटाबाबू ने एक पुड़िया साहब को धीरे से खिसका दी, जिसे साहब ने अपनी जेब के सुपुर्द किया। साहब ने धीरे से पूछा, "हाऊ मच।"

कांटाबाबू ने किसी भाषा में कुछ 'गुन्न-सा' कहा, जिसे साहब के अलावा कोई समझ न सका।

साहब ने 'इंस्पेक्शन' लिखा और कांटाबाबू को डांटते रहे। फिर वह जीप

में धंसे और चले गए।

एक गाड़ीवान बोला, "साहब बहुत नाराज था। लगता है, अबकी छोड़ेगा नहीं। मुकदमा चलेगा।"

दूसरा बोला, "अब क्या मुकदमा चलेगा? देखा नहीं, पुड़िया चली गई।"

उसकी समझ में एक बात नहीं आई। जब यही सब करना था, तो साहब ने कांटाबाबू को इतनी डांट क्यों पिलाई? इस क्यों का कोई जवाब नहीं। कांटाबाबू भी तो उसे बिना वजह डांटा करता है।

दो दिन तक मैकू भूखा पड़ा रहा। इन दो दिनों में कांटाबाबू से उसने मिन्नतें कीं कि उसकी गाड़ी कटौती के साथ ही सही, पर तौल दी जाए। पर कांटाबाबू का कौल ब्रह्मा की लकीर हो रहा था। अंत में वह कांटाबाबू के पैरों पर गिर पड़ा, "बाबू, यहां आए चार दिन हो गए हैं। मारे भूख के मरा जा रहा हूं। गन्ना चूसने से कहीं पेट भरता है? गन्ना भी हमारा सूखकर लकड़ी हो गया है।"

"छोड़ बे, पैर! तू बहुत परेशान कर रहा है। जा, ले आ। तेरी गाड़ी तौल दें। पर तू कानून बहुत पोंकता है। आइंदा से कानून मत पोंकना।" कांटाबाबू बोले।

उसकी गाड़ी जब तौली गई, तो शाम हो चुकी थी। उसने तौल की पर्ची, अंकित वजन देखे बिना, निर्विकार भाव से जेब में रख ली। गाड़ी का गन्ना ट्रक पर लदने लगा, तो उसने ट्रक के गन्ना ढोने वाले मजदूर से एक बीड़ी मांगी और नियामत की तरह पीने लगा। कल ही उसके पास बीड़ियां खत्म हो गई थीं। भूख से ज्यादा बीड़ी की तलब मारे थी। गाड़ी से गन्ना उठ गया, तो उसने रस्सा गाड़ी पर रख लिया।

सिप्पा चल रहा था। उसका मन कांप गया। सोचा, कल सुबह चलें, पर तब तक भूख कुनमुनाने लगी। उसने बैल नहीं दिए और चल दिया। कमल-पत्र पर जलवत वह अपने चारों ओर के वातावरण से निरपेक्ष हो गया, 'यह भी कैसी खरीदारी है···? बनिया कोई चीज देता है, तो पैसे पहले रखवा लेता है···। गेहूं खरीदने जाओ, पैसे पहले दो···। गन्ने की खरीदारी अजीब है···। अभी पिछले ही तो साल की बात है। गन्ना गिराने के आठ महीने बाद फैक्टरी ने गन्ने की कीमत का भुगतान किया···इस अनीति का कोई पुछइया नहीं है···किसान भूखों मर जाएं, पर उसे समय पर पैसा नहीं मिल सकता···आज वह शिवचरण को क्या जवाब देगा जाकर? बड़ी मुश्किल में एक बैल मंगनी में दिया था···। यहां चारा नहीं मिला। बैल थोड़ा खटक भी गया है।...वह तो खा ही जाएंगे···।"

शिवचरण की याद आते ही वह कांप गया।

शिवचरण के सामने जब वह जान-बूझकर अपना जामा नुचवाने पहुंचा था, तो वह बोले थे—"बैल नहीं हैं, तो मैं क्या करूं? गांव में और भी हैं। तमाम धन्ना सेठ हैं, तुम्हारे पंडिज्जी हैं। उनसे क्यों नहीं मांगते? बैल देने का ठेका क्या मैंने ही ले रखा है?"

"पर, बाऊ साहब, आपने आज के लिए कहा था कि बैल दे देंगे।"

"हां, कहा था। जाओ, नालिस कर दो जाकर कि बाऊ साहब ने वादा किया था और बदल गए।"

"नहीं, बाऊ साहब!"

"नहीं, बाऊ साहब क्या! ससुर हमको 'नीति' सिखाते हो?"

"बैल नहीं मिला, तो मेरा गन्ना पड़ा-पड़ा सूख जाएगा। न कटवाया होता, तो कोई बात नहीं थी।"

घंटे-भर रिरियाने के बाद बाऊ साहब ने कहा था, "घंटा-भर से माठा किए है। जा, खोल्ले जाकर। पर, साले कहीं ज्यादा न लाद देना कि बैल का कचूमर निकल जाए। और, हां, बैल कल शाम तक वापस जरूर आ जाए।"

तेज ठंडी हवा में दुबकता जा रहा था। लगा हाथ-पैर एकदम 'सुन्न' हो गए। वह दुबकता और दुबकता चला गया। उसे नींद आने लगी। बैल अपनी रफ्तार से घर की तरफ चलते रहे।

□ □ □

सुबह बसंतिया ने दरवाजा खोला, तो देखा—गाड़ी दरवाजे पर खड़ी है। बैलों के चाले जुए से हटे थे, पर उनके गिराब जुए से ही बंधे थे। उसने 'रम्मू के बप्पा' कहकर कई आवाजें दीं, पर कोई नहीं बोला। सोचा, कहीं दिशा-मैदान गए होंगे। थोड़ा समय और बीता और वह न दिखाई पड़ा, तो उसने समझा किसी के दरवाजे या खेतों की ओर निकल गए होंगे। सोचा, बैलों को कम से कम जुए से पटाकर ओसारे में बांध दे। जुए के पास जैसे वह पहुंची, उसे गाड़ी में फटी कथड़ी में सिकुड़े शरीर से एक चेहरा, जिसकी आंखें टंगी हुई थीं, झांकता दिखा। उसका दिल धक-से हुआ। वह जल्दी से लोटे में पानी लाई और मुंह पर छिड़कने लगी। पर खेल खत्म हो चुका था।

दहाड़ें सुनकर आस-पास के लोग बाहर आए। एक ने कहा, "लगता है, सर्दी लग गई है।"

दूसरा बोला, "पर कल कोई खास सर्दी नहीं थी। भूख की वजह से तो नहीं मर गया।"

"इस तरह भूख से कोई नहीं मरता।" एक अन्य व्यक्ति ने कहा। "ऐसी अचानक मौत हार्टफेल होने से ही होती है। जब कांटे पर गन्ना ले जा रहा था, मुझे मिला था। बिल्कुल चैतन्य था।"

जाने कब तक इन सवालों पर बहस चलती रही। धूप छप्पर से उतरकर जमीन से आ लगी। तब कहीं मैकू की अंतिम किरिया की तैयारी पूरी हो सकी।

लेखक से बातचीत

राजेंद्र यादव

सारा आकाश, उखड़े हुए लोग, एक इंच मुस्कान, अनदेखे अनजान पुल, कुलटा, खेल-खिलौने, जहां लक्ष्मी कैद है, छोटे-छोटे ताजमहल, टूटना, ढोल, एक दुनिया समानांतर, प्रेमचंद की विरासत, इत्यादि के लेखक।

"...अनुभव मेरे लिए एक जंगल जैसा होता है और उसमें सिर्फ टार्च लेकर गुजरना कुछ-कुछ मुझे लिखने जैसा लगता है..."

प्रस्तुति : लोठार लुत्से

सुपरिचित कथाकार राजेंद्र यादव

राजेंद्र, यह अभी-अभी जो प्रसंग मैंने पढ़कर सुनाया है यह तुम्हारी कहानी 'टूटना' से है। इस शीर्षक से तुम क्या कहना चाहते हो ?

'टूटना' कहानी (अंश पृष्ठ 15 पर) असल में कई स्तरों पर चलती है। ऊपर से इस इस कहानी का नायक सोचता है कि वह 'बन' रहा है, जब कि भीतर से वह टूटता जाता है, और जितना ही भीतर से टूटता जाता है, उतनी ही प्रतिहिंसा के साथ वह अपनी बाहरी घूमधाम को बनाता जाता है। इस तरीके से एक दिन जब उसका यह 'टूटना' संपूर्ण होता है, तभी कहानी खत्म होती है। अब वह अपने आप से टूटकर एक दूसरा व्यक्ति हो गया है।

एक और स्तर पर यह कहानी, लीना के टूटने की भी है : कि मानसिक व्यथा और अहंकार से टूटने के बाद उसने समझौते, क्षमा या अपनी तरफ से हाथ बढ़ाते हुए सुलह का पत्र लिखा होगा। तो मेरे लिहाज से यह व्यक्तित्व के विघटन या वास्तविक 'आत्म' से अलग हटते जाने, यानी नायक, किशोर के मानसिक तारों से अलग-अलग स्तरों पर क्रमशः और साथ-साथ समानांतर टूटने की कहानी है। इसीलिए मैंने इसका नाम 'टूटना' रखा था।

तुम्हें उन परिस्थितियों की कोई याद है जब तुमने इस कहानी को लिखा था ? क्या तब कोई बाहरी प्रयोजन या घटना विशेष--राजनीतिक या इसी तरह की कोई और बात--मन में थी ? या कि यह तुम्हारे भीतर स्वतः ही स्फुरित हुई ?

लेखन के लिए जो निमित्त या बाहरी दबाव होता है, वह तो इस कहानी के लिए बड़ा मोटा-सा था। **नई कहानियां** उस समय निकली थी और मन्नू भंडारी एक विशेषांक का संपादन कर रही थी। मन्नू बहुत-बहुत उत्सुक थी कि मेरी कहानी उसमें जानी चाहिए। यह उन दिनों की बात है जब में कलकत्ते में था। सी. आई. टी. रोड पर रहता

राजेंद्र यादव भीष्म साहनी के साथ

था। कहानी उसी दबाव, मांग और उसी स्थिति, या लगातार तकाजों, में लिखी गई थी। उस विशेषांक में शायद मेरी ही कहानी सबसे लेट, सबसे बाद में पहुंची थी; अंत में ही जा पाई। जहां तक इसकी विषयवस्तु का सवाल है, यह सही है कि बहुत दिनों से चीजें मेरे भीतर जमा होती जा रही थीं। कभी-कभी कुछ कहानियां बरसों, दसियों बरस दिमाग में बनी रहती हैं और वे जमा होती जाती हैं।

इस कहानी के पीछे कुछ मेरी अपनी मानसिकता थी, बहुत भीतर—उससे भी ज्यादा एक मेरे दोस्त की। इसी तरह से, उसने एक बहुत बड़े मिलिटरी अफसर की पुत्री से प्रेम किया था, और लगी-लगाई, आई. ए. एस. की नौकरी छोड़ी थी। उसे लगा कि जिस लड़की से वह शादी कर रहा है, आई. ए. एस. की नौकरी उसके लिए बहुत छोटी है। उसने मेरे सामने दो-तीन व्यवसाय जमाने की भी कोशिश की। वह झटके से बड़ा आदमी बनना चाहता था। खर्चे उसके बड़े आदमियों के थे। अपनी तनख्वाह पहले हफ्ते में खत्म कर देता था। एक तरह से उसी मित्र के ऊपर मैंने कहानी लिखी थी। वातावरण जैसे और कहानियों का है, शुरू का बिल्कुल मेरा अपना आगरे का है। वहां मैं अपने कुछ मित्रों को जानता था। वे उसी तरह धीरे-धीरे बड़े बने हैं। बाद में कलकत्ते का वातावरण है। मुझे लगता था कि आदमी को ऊपर बढ़ाने वाली चीज केवल महत्वाकांक्षा, आगे बढ़ने की इच्छा ही नहीं होती; कभी-कभी बहुत भयंकर घृणा भी आदमी के लिए एक जीवनी शक्ति बन जाती है। यह कथ्य या यही मूल भाव, कहीं बहुत दिनों से मेरे मन में घुमड़ रहा था। जिस समाचार का टुकड़ा मैंने ऊपर दिया है। वह पता नहीं क्यों भीतर ही भीतर मुझे बेचैन रखता था—कि आखिर, वह दूर-दराज गांव में बैठा दरोगा कहां महात्मा गांधी से इस तरह जुड़ा था कि जैसे उन्हीं के लिए जी रहा हो? और इस बाहरी दबाव में जब पत्रिका का अंक निकल रहा था, तो इसी बहाने से मुझे उन सारी चीजों को इकट्ठा करने में मदद मिली। पहला रूप मेरे मन में टुकड़े-टुकड़ों में घुमड़ता रहा। लिखना मेरे लिए बहुत सहज नहीं है। बहुत कष्ट से मुझे लिखना पड़ता है। अक्सर पूरी-पूरी कहानी मैं मन में सोच लेता हूं; लिखने के क्षण को टालता जाता हूं। कल लिखेंगे; परसों लिखेंगे; सुबह लिखेंगे; शाम को लिखेंगे। इसी तरह, कभी थोड़ा-सा, एक-दो पैराग्राफ लिखा; फिर दूसरा काम करने लगे। वैसे ही, यह कहानी भी लिखी गई। लेकिन लिखने के बाद मुझे लगा कि कहानी शायद अच्छी बनी है। खास तौर से जिस तरह के एक सोशल क्लाइंबर (सामाजिक सीढ़ियां चढ़ते चले जाने वाले) की कहानी मैं कहना और उसकी मानसिकता को पकड़ना चाहता था, उसको शायद मैं पकड़ने की कोशिश कर पाया हूं।

यह जो प्रसंग कहानी में से तुमने अभी-अभी पढ़ा, मेरे खयाल से कहानी की बहुत ही महत्वपूर्ण स्थिति है। इसमें भाषा की समस्या, या कहना चाहिए, दो भाषाओं की ही समस्या ली गई है। क्या तुम भाषा के बारे में कुछ कहना चाहोगे? मेरा मतलब इस प्रसंग के संदर्भ में या तुम्हारे अपने लेखन के संदर्भ में तुमने भाषा को किस रूप में समझा है?

सही है कि भाषा की बात भी मेरे मन में बहुत दिनों से चल रही थी। भाषा, खास तौर से अंग्रेजी को लेकर—जिस तरह की भावना हम लोगों में भर दी जाती है या जिस तरह की ग्रंथि हमारे भीतर थी, उसी की एक अभिव्यक्ति इस प्रसंग में हुई है। मैं कह रहा था कि सूत्र और इसकी मूल-भावना बहुत पहले और पीछे की है। अच्छा, मैं बहुत एक व्यक्तिगत बात ही बता दूं। हमारे एक मामाजी थे, जो हमारे स्तर से बहुत ऊंचे स्तर के थे। उनका रहन-सहन बड़ा साहबी था। उन कोठियों में, कुक-बैरा और इस तरह के ताम-झाम और वातावरण में, जो हम लोगों के लिए अकल्पनीय था, पहुंचकर एक खास तरह की घुटन महसूस होती थी। उस अंग्रेजी-

'टूटना' का अंश

"देखो कल एक जहाज क्रैश हो गया···आ० ए० सी० का विस्काउंट था···" अखबार पढ़ते-पढ़ते उसने मेहता और लीना को सुनाया। अक्सर जब वे तीनों बैठते, तो किशोर को लगता, जैसे उसके पास बात करने का कोई विषय ही नहीं है। अपनी इस कमजोरी को छिपाने के लिए वह कुछ उठाकर पढ़ने लगता—हालांकि एकाध बार लीना ने बताया भी कि यह बदतमीजी है।

"क्या था ?" लीना स्टोव के पास थी, जैसे कम सुनती हो, इस तरह कान पर जोर देकर पूछा। वैसे भी स्टोव की आवाज रसोई में गूंज रही थी। उसने डरते-डरते मेहता को देखा कि कहीं सुन तो नहीं लिया।

"इंडियन एयर-लाइन्स का विस्काउंट था," किशोर ने दोहराया। वह और मेहता आंगन में मूढ़ों पर बैठे थे। लीना रसोई में, पास ही, चाय बना रही थी।

"विस्काउंट नहीं, प्रोफेसर साहब, वाइकाउंट बोलो !" लीना ने हँसकर कहा, तो फिर वही बाई-फोकल शीशे और तुच्छता का अहसास कराती दो उपेक्षा-भरी आंखें उसे तिलमिलाता छोड़ गईं।

"अरे हां-हां, आप कॉन्वेंट में पढ़ी हैं। जरा स्पैलिंग तो देखो !" किशोर जिद करता रहा।

"मेहता साहब, जरा इन्हें बताइए", वह वहीं से बोली।

मेहता अचकचा उठा। क्षमा मांगने के लहजे में कहा, "प्रोफेसर साहब, है तो वाइकाउंट ही···"

"अरे, इन अंग्रेजी शब्दों का कोई एक उच्चारण है ?" किशोर भड़क उठा, "अंग्रेज और अमेरिकनों की बात छोड़ दीजिए। इंग्लैंड में खुद हजारों शब्दों के उच्चारण तय नहीं हैं। एक अंग्रेज बोलता है डिरेक्शन, दूसरा कहेगा डायरेक्शन ! एक कहेगा ऑफिन; दूसरा बोलेगा ऑफिटन ! लिखा है ल्यूटिनेंट, स्कीइंग—पढ़ रहे हैं, लेफ्टिनेंट, शीइंग ! स्पैलिंग है जी-ए-ओ-एल, बोला जा रहा है जेल !···आई हेट द लैंग्वेज ऑफ इम्पीरियेलिस्ट्स एंड ब्यूरोक्रेट्स !" और इस शब्द के याद आते ही उसे लगा जैसे वह मेहता और लीना को नहीं, इन दोनों के पीछे कहीं छिपे खड़े दीक्षित साहब को यह सब सुना रहा है, "साले हमारे जुबान को कहेंगे वर्नाक्युलर···! जानते हैं, वर्नाक्युलर माने क्या होता है ? वर्नाक्युलर मीन्स द लैंग्वेज ऑफ रोमन स्लेव्ज···जन्म-जन्मांतर के गुलामों की जुबान···"

उसके गुस्से पर लीना जोर से हँस पड़ी, "लेकिन इस पर इतना गुस्सा होने की क्या जरूरत है ? अपनी गलती मान लीजिए न, और नाराज होकर भी वही भाषा बोल रहे हैं, जिस पर नाराज हैं !" वह हत्थी टिकाकर हँसती रही।

"शटाप !" जाने उसे क्या हुआ कि जोर से उसने अखबार जमीन पर पटका और झटके से उठ खड़ा हुआ, "ठीक है, हम कॉन्वेंट में नहीं पढ़े हैं। हमारे उच्चारण खराब सही, लेकिन इसी कॉन्वेंट ने तुम्हारा दिमाग खराब कर दिया है···" और वह मेहता को स्तब्ध छोड़कर बाहर चला आया। आते हुए कह आया, "मैं गरीब आदमी हूं, लीना, लेकिन मेरी इज्जत है !"

साहबों वाले वातावरण में जाने का मौका कभी-कभी मिलता था। वहां जो घुटन बेचैनी होती थी, शायद कुछ उसी को किसी रूप में मैंने किशोर के माध्यम से दिखाया है। जब वह अपने भावी ससुर के यहां जाता है, तो कैसा महसूस करता है। यह शायद कहीं अवचेतन में मेरा अपना अनुभव ही रहा होगा। वहां सबसे ज्यादा जो चीज मुझे परेशान करती थी, भाषा के स्तर पर थी। हम लोगों के उच्चारण को लेकर वहां के बच्चे हँसते थे। हम लोगों के स्तर को देखकर हँसते थे। शायद हम लोग स्वयं ही इतने ज्यादा सचेत और चौकन्ने रहते होंगे कि एकदम स्वाभाविक व्यवहार हम लोगों का नहीं रह जाता होगा। वहीं एक चीज पर मेरा ध्यान बार-बार गया कि भाषा, खास तौर से अंग्रेजी कितने बड़े अलगाव की भाषा है। भाषा को लेकर यानी उच्चारण और तलफ्फुज पर वहां सबसे ज्यादा जोर होता था। व्याकरण या वाक्य-विन्यास वहां विशेष महत्व नहीं रखता था—रखता था धारा-प्रवाह बोलना, और विशेष मरोड़ा हुआ! शब्दों के उच्चारण से भी ज्यादा। इसके बाद तो यही तत्व हमने साथियों में, विशेषकर कॉन्वेंट में अंग्रेजी पढ़ने वालों में, खास तौर से पाया और यही चीज मुझे कहीं पर बेहद बैचैन करती थी। मैं आगरा कालेज में था। एक बार **अमरनाथ झा** वहां बोलने आए। अमर नाथ झा थे या **राधाकृष्णन**, मुझे याद नहीं। बहुत-से मित्र सिर्फ इसीलिए

भाषण सुनने गए कि वह बहुत अच्छी अंग्रेजी बोलते थे, कि अंग्रेजी उनके लिए मातृभाषा की तरह स्वाभाविक थी और बहुत धाराप्रवाह, अंग्रेजों की तरह अंग्रेजी बोलते थे। यही देखने-सुनने हम लोग पहुंचे, तो निश्चित रूप से स्तंभित तथा मुग्ध थे कि किस तरह से स्वाभाविक सहज रूप से भाषा उनकी जबान से निकलती है, यानी हमारे जैसा प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इस प्रशंसा के साथ ही मैंने मित्रों से और खुद अपने आप जानने की कोशिश की, कि जो बात वह कहना चाहते थे, वह क्या थी? मुझे संतोष या आश्चर्य हुआ कि उनकी बात मेरी तरह किसी की समझ में नहीं आई थी। यानी राधाकृष्णन ने किस दार्शनिक समस्या को उठाया था, किस विषय पर वह बोल रहे थे, इससे किसी का कोई सरोकार नहीं था। उस पर किसी ने कुछ नहीं कहा। हम लोग तो सिर्फ जबान सुनने वहां गए थे। एक दार्शनिक या विचारक के लिहाज से, शायद, यह उनका या किसी का भी, बहुत बड़ा अपमान है कि हम उसकी जबान, हस्तलेख पर ही मुग्ध बने रहें। विचार तक पहुंचने की कोशिश ही न करें। अपने पूरे समाज में मैंने देखा कि विचारों की चिंता उतनी नहीं होती, जितनी जबान, अदा और व्यवहार की। इस अंतर्विरोध के पीछे ही एक पूरे समाज, एक वर्ग की मानसिकता छिपी हुई है। मोटे रूप में एक विशेष वर्ग रहा है, जो सिर्फ इस बात को महत्व देता रहा है कि हम अंग्रेजी किस उच्चारण में और कैसे बोलते हैं। क्या बोलते हैं या बोलने के जरिए हम कुछ पाते भी हैं या नहीं पाते हैं, इसका महत्व ही नहीं है उनके सामने। और मुझे लगा कि ये भी मूलतः उतने ही अशिक्षित और विचारों के लिहाज से उतने ही दरिद्र हैं जितने निरक्षर लोग। केवल उनके पास अपने वर्ग द्वारा दी गई एक विशेष सुविधा थी, और वह थी ऑक्सफोर्ड की अदा में बोली जाने वाली अंग्रेजी। लगा कि यह केवल भाषा की समस्या नहीं, एक वर्ग का अंतर्विरोध है। इसमें एक वर्ग अपने को अलग-अलग ऊपर रखता है, अपने को समाज का 'क्रीम' मानता है, दूसरे वर्गों से घृणा करता है। इसमें मुझे वर्ग-संघर्ष जैसी चीज दिखाई दी थी, एलीट क्लास का दंभ और उसी को मैंने "किशोर" के जरिए बताने की कोशिश की कि यह केवल दो भाषाओं, उच्चारणों, व्यवहार का झगड़ा नहीं, बल्कि दो विशेष सामाजिक, आर्थिक स्थितियों का, दो अलग मानसिकताओं का झगड़ा था।

इस कहानी में भाषा को कथ्य बनाकर बातचीत करने के लिए इतना काफी है। तुम्हारा अपना इस कहानी या पूरे तुम्हारे लेखन के संदर्भ में भाषा को लेकर क्या सोचना है?

असल में, भाषा को लेकर मुझे बड़ी-बड़ी उलझन महसूस होती है। इसे संस्कार कहिए, अपनी सीमा कहिए, अक्षमता कहिए कि लिखने के, उन एकांत और एकाग्र क्षणों में मुझको हमेशा लगता है कि भाषा हमेशा मेरे हाथ से फिसल जाती है। जो भाषा मैं लिखना चाहता हूं और जिस ढंग से लिखना चाहता हूं, वह आती नहीं। एक चीज मेरे सामने विचार या धारणा के रूप में बहुत स्पष्ट है, लेकिन उसको प्रभाव की दृष्टि से जिस नए या विशेष कोण से मैं कहना चाहता हूं; वह सब भाषा का आकार लेते ही बहुत कॉमन, सामान्य और निर्विशेष लगने लगता है। मुझे एकदम बहुत कोफ्त होती है—एक खास तरह की खीझ—नहीं, इस तरह तो मैं नहीं कहना चाहता था। मैं उसे जिस तरह से महसूस या 'देख' रहा हूं, बात तो वह बहुत ही अलग है। इस तरह, मेरे लिए यह हमेशा अमूर्त और अभिव्यक्ति के बीच की रस्साकशी से भाषा का रूप बनता है। जो अमूर्त मेरे लिए प्रत्यक्ष है, वह किस रूप में व्यक्त हो, मेरा मुख्य संघर्ष यह है। इसीलिए भाषा मेरे लिए कभी भी मेरी एकमात्र चिंता का विषय नहीं रही, जैसा कि अक्सर मित्रों से सुनता हूं कि भाषा को लेकर ही बेहद सचेत और चिंतित हैं। जैसे **निर्मल वर्मा** या **सच्चिदानंद वात्स्यायन** या और मित्र हो सकते हैं। लगता है, उनके लेखन का साठ-सत्तर प्रतिशत उद्यम, भाषा पर होता है। मुझे भाषा इस लायक नहीं लगती। मुझे तो यह एक ऐसी पारदर्शी-सी चीज लगती है जिसके पार आप भीतर से बाहर और बाहर से भीतर देख-छू सकते हैं। इसीलिए, मुझे न शब्दों की शुचिता का खयाल रहता है कि वे अंग्रेजी के हैं या हिंदी या उर्दू के हैं; न मुहावरे का। मेरे लिए सवाल सिर्फ संपूर्ण अभिव्यक्ति का है कि उस जंगली जानवर को कहां से पकड़ूं कि कि कागज पर पालतू होकर आ बैठे। हां, विशेष भाषा पर बल देने की बात मैंने भले ही न सोची हो, मगर कुछ लोगों के बहुत सजीव-सचित्र भाषा प्रयोग देखकर मन में आता जरूर था। लगा, वह मेरी लाइन नहीं है। यह सही है कि शुरू में हम सब अच्छी जबान लिखने वालों से प्रभावित हुए थे, मगर फिर इनके मुकाबले मुझे जैनेंद्र, हैमिंग्वे जैसों की भाषा ज्यादा सार्थक और बड़ी साधना का परिणाम लगी, क्योंकि वह बेहद पारदर्शी, देखने में बहुत सरल लगती है, मगर उस तरह की सरल भाषा लिखना बेहद कठिन है।

तुम्हारे उपन्यास और कहानियां एक विशेष संघर्ष की उपज होने चाहिए, क्योंकि लिखना तुम्हारे लिए आसान काम नहीं लगता—कम से कम उन्हें पढ़ते हुए पाठक ऐसा ही महसूस करता है। मुझे नहीं लगता, तुम उन्हें बहुत सहज रख पाते हो। क्या तुम बताना चाहोगे कि तुम्हारे मन में लिखते समय कौन-सा पाठक होता है, या तुम्हारे लेखन की विशिष्टता के बावजूद वह कौन-सा पाठक तुम्हारे साथ गहराई से

(शेष पृष्ठ 26 पर)

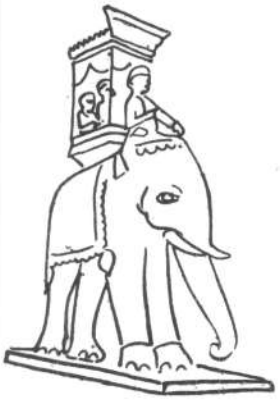

हुजूर दरबार

(उपन्यास-अंश)

गोविंद मिश्र

तेरह तोपों वाली वह एक पुरानी रियासत थी···न बहुत बड़ी और न छोटी । अंग्रेजियत का प्रभाव सीमित था और लोगों का जीवन पुराने मूल्य-मान्यताओं के ही इर्द-गिर्द चलता था । राजाओं का व्यक्तिगत जीवन चाहे जो रहा हो, उन्होंने प्रजा की बुनियादी जरूरतों का हमेशा खयाल रखा । यों अदालतें थी—तीन श्रेणियों के मजिस्ट्रेट, मुंसिफ-कोर्ट, दीवान-कोर्ट और सबसे ऊपर दरबार-कोर्ट···पर यह परंपरा-सी चली आई थी कि महाराज स्वयं जब-कब रियासत की खास-खास सड़कों पर निकलें और प्रजा की फरियाद आमने-सामने सुनें । साथ होते थे दीवान, कोतवाल और तहसीलदार । लोगों की फरियाद सुनना और उसे वहीं दूर करना दरबार की शान की बात थी । सिर्फ पेचीदा मामले ही अदालतों के लिए थे । इस तरह, महाराज का प्रजा के साथ सीधा संपर्क रहता था । अगली गश्त में यह अपने आप पता लग जाता कि उनके पिछले किसी हुक्म की तामील हुई या नहीं या कि कौन व्यक्ति न्याय के लिए अब भी परेशान है । भुखमरी तो थी ही नहीं; लोगों की बुनियादी जरूरतें आराम से पूरी हो जाती थीं । सस्ताई का जमाना था, इसलिए जुर्म भी कम थे ।

होली और दशहरा—दो ऐसे त्योहार थे जिन पर स्टेट की तरफ से खर्च किया जाता था और महाराज अपने तरीके से उनमें हिस्सा भी लेते थे। दोनों ही मौकों पर महाराज का एक भव्य जुलूस रियासत की मुख्य सड़कों पर से गुजरता था ।

होली के लिए पच्चीस हजार का बजट तय था । उस जमाने के हिसाब से यह भारी रकम थी । कुछ दिनों पहले से ही तोपाखाने से पीतल के बड़े-बड़े हौज और नांदें कुछ खास-खास व्यक्तियों के लिए भेज दी जातीं । स्टेट की ही तरफ से उनके पास रंग और गुलाल भी पर्याप्त मात्रा में भेज दिए जाते । कच्चा लाल और पीला दो ही रंग चलते थे । भोड़र के लड्डू बनते, जिसके अंदर गुलाब भरी रहती । सफेद-सफेद चिलकते हुए बर्फ के गोलों जैसे ये लड्डू जिस पर फच्च से गिरते, फूटने पर लाल गुलाल उसके कपड़ों पर बिखेरते थे । जिन-जिन रास्तों से महाराज की सवारी निकालनी होती, वहां पहले से ही हौज और नांदें भरी रहतीं, भोड़र के लड्डू तैयार रहते ।

हाथी पर सवार महाराज निकलते और रास्ते में लोग उन पर पिचकारियों से रंग डालते, फेंककर भोड़र के लड्डू मारते । महाराज अपना चेहरा बचाए रखने के लिए एक ढाल रखते थे, जिसे वह मुंह के सामने कर लेते । महाराज के हाथी के पीछे सवारियों पर या पैदल दरबारी और अन्य लोगों का काफिला होता था । सबसे पीछे एक कांवर पर तरह-तरह की शराब और भंग भी चलती थी जिस पर मधुमक्खियों की तरह शौकीनों की भीड़ चिपकी रहती । कोई कुछ भी पिए और कितनी भी पिए । कांवर के साथ चार-पांच कहार चलते थे, जो गिलास धो-धोकर शराब और भंग बांटने वालों को देते जाते ।

जुलूस महल से शुरू करके चक्करदार रास्ते से गुजरता हुआ किले की ड्योढ़ी पर जाकर खत्म होता था । महाराज तब तक तरबतर होते । वहां उनका इंतजार एक कार करती होती, जिसमें बैठकर वह महल जाते, ताकि बहुत देर तक भीगे न रहना पड़े ।

दोपहर बाद नजरबाग में महाराज कुछ खास-खास लोगों को होली-मिलन के लिए बुलाते थे । यहां एकदम सफेद चूड़ीदार वैसा ही अंगरखा और पीले साफे में पहुंचना होता था । चारों तरफ मेहमानों के लिए कुर्सियां और बीचों-बीच पांच फुट गहरे सीमेंट के दो हौज । एक में लाल रंग । दूसरे में पीला । महाराज के पीछे एक पुराना फायर इंजन रखा रहता था, जिसे कुली लोग हैंडपंप के सहारे चलाते थे । दो तोपें सामने की तरफ मुंह बाए तैयार करती थीं । जब भी महाराज किसी पर अपनी विशेष अनुकंपा जाहिर करना चाहते, तोप उधर मुखातिब हो जाती । तोप के मुंह से सामने के व्यक्ति पर लाल या पीला रंग झरने की तरह गिरने लगता । वह रंग नहीं था, महाराज का स्नेह होता था । जो तोप से भीगते थे, वे रश्क की नजरों से देखे जाते थे । अठखेलियां चल पड़तीं । महाराज किसी को इशारा करते और उसे हौज में फेंक दिया जाता । धीरे-धीरे हौज में एक-दूसरे को गिराने का सिलसिला चल निकलता । जब वह जोश थमता, तो किसी बेड़नी (नीचे स्तर की तवाइफें) की कोई टीम ठुमकती हुई प्रकट हो जाती । कवि ईसुरी की फागें गाई जातीं । कभी-कभी दो टीमें होती

थीं, जो फागों की प्रश्नोत्तरी से समां बांध देतीं। उस मौके पर महाराज फड़कदार गालियों का भी रस लेते।

अंत में सभी महाराज का गुलाल से तिलक करते और महल की तरफ से पेश की गई गुझिया, पपड़ियां झाड़कर डकार लेते हुए लौटते थे।

महाराज रुद्रप्रताप को होली या दशहरे के लिए या कंपनी के नाटकों के लिए वह जोश तो नहीं था। पर पिता या उनके पहले से चली आती हुई किसी परंपरा को वह बदस्तूर निबाहते थे। वह विश्वास न सही, लेकिन अपने राज्य की विशेषताओं, यहां की अपनी अलग संस्कृति से उन्हें अंदरूनी मुहब्बत थी। अपनी रियासत पर नाज़ था। शान-शौकत में दिलचस्पी भी थी। चेंबर आफ प्रिंसेज़ का सदस्य होना लाजमी था, पर वह गए कभी नहीं, क्योंकि रियासतों के प्रभुत्व के हिसाब से चलना, उस क्रम में नीचा देखना, यह अपमानजनक लगता था। मेहमानों के ठहरने के लिए रियासत में एक भव्य महल अलग से था। एकदम तालाब के ऊपर। अक्सर तो मात्र एक मेहमान के लिए सौ बेयरों की फौज और बाहर उतने ही गार्ड्स की एक टुकड़ी तैनात कर दी जाती थी। मोती और हीरों से जड़े पुश्तैनी लिबास को महाराज उसी लापरवाह अदा से धारण करते थे, जैसे अपनी बाईं बांह में मोटी सोने की जंजीर।

रियासत की उस दुनिया में दिवंगत महाराजाओं की भी अपनी अहमियत थी। समाधियों वाली रोड पर कोई व्यक्ति नंगे सिर नहीं गुजर सकता था और न ही स्टेट के अलावा कोई और झंडा ही उधर से ले जाया जा सकता था। इस नियम की पाबंदी के लिए उस रोड के दोनों तरफ बदल-बदलकर एक-एक संतरी की ड्यूटी हमेशा रहती थी। अपने दिवंगत पिता पर नए महाराज कितना खर्च करते थे, उससे उनका अपने पिता के लिए आदर जाहिर होता था। महाराज रुद्रप्रताप ने अपने स्वर्गीय पिता की एक आदमकद संगमरमर की मूर्ति खड़ी की थी जिसे छतरी कहते थे। चाकरों का एक पूरे का पूरा काफिला था जो मूर्ति को हर रोज नियमित रूप से नहलवाता, उनके कपड़े बदलता, आभूषण पहनाता। दोनों समय महल से दिवंगत महाराज के लिए सजकर भोजन का थाल जाता था। धूप तेज होती या बारिश के दिन होते, तब मूर्ति के ऊपर छाता तान दिया जाता। ज्यादा गर्मी पड़ती, तो बिजली के एक पंखे का भी इंतजाम कर दिया जाता था। स्वर्गीय महाराज के जन्मदिन पर वहीं मूर्ति के पास बैंड-धुन चलती, उनके खास मित्रों को दावत दी जाती। वर्तमान महाराज उस सबके दौरान बराबर मौजूद रहते। उन्हें लगता जैसे वे कुछ घंटे वह अपने पूज्य पिता के साथ बिता रहे हों।

सब कुछ था···वर्षों से चली आती चमक-दमक, रंगीनियत···लेकिन महाराज का मन बराबर बिखरा-बिखरा ही रहता···जैसे वह हवा में बैठे हुए थे, उसी के गड्ढों में धचके खाते हुए उड़ रहे थे—पता नहीं किस दिशा की ओर। अपना बिखराव बाहर जाहिर न होने देने की जबर्दस्त कूवत थी उनमें, शायद पुश्तैनी। बाहर हमेशा एक ही मुद्रा रहती थी···दबी-दबी खुशमिजाजी की। खुद को खूब बांधकर रखते थे हिज़ हाइनेस। रंगों, जुलूसों, शाही कार्यक्रमों में खुद को बराबर उलझाए रहते—यहां तक कि ऐसा लगता था कि उन्हें इन सबके बीच होना भाता था। कोई मेहमान आता, तो औपचारिकताओं का एक लंबा सिलसिला चल पड़ता। टेनिस पार्टी और बगीचे में छोटे-मोटे घूमने को भी फंक्शन की शक्ल दे दी जाती। इन कार्यक्रमों के कायदे-कानून भी तय थे। एजेंट को टेनिस में नहीं हराया जा सकता था। इसी तरह ब्रिज में एजेंट की पत्नी की चाल पर डबुल नहीं ही की जाती थी।

अपनी रियाआ से महाराज को प्रेम था। अक्सर वह गांवों की तरफ निकल जाते। लोगों से उनकी बोली में बातें करते। एक से एक सुंदर इमारतें बनवाना, रियासत में तालाबों का जाल बिछाना, बगीचे लगवाना···यह सब उन्हें पसंद था। एक-न-एक चीज बनती ही रहती थी। महाराज को अपनी क्षेत्रीय बोली से खास लगाव था—दरबार में प्रजा के साथ, महल में हमेशा वही बोलते थे। अंग्रेजी सिर्फ अंग्रेजों से या फिर जब-कब किसी खास मेहमान से बात करने के लिए थी। शराब पीने का उन्हें बेहद शौक था। दरअसल, उनके व्यक्तिगत खर्चों में सबसे ज्यादा खर्च इसी मद पर था। एक-से-एक किस्म की शराब, एक से एक बोतलें। आजकल शराब की तरह-तरह की बोतलों से ही एक इमारत बनवा रहे थे जिसका नाम भी उन्होंने सोच डाला था—बोटल हाउस।

नई हवा से अछूते नहीं थे हिज़ हाइनेस। गद्दी पर बैठते ही उन्होंने कुछ बेहद प्रगतिवादी आदेश निकाले थे—राज्य की भाषा हिंदी होगी। रनिवास में पुश्त-दर-पुश्त चली आई पर्दा प्रथा को खत्म किया जाता है। राज्य में छुआछूत दंडनीय अपराध होगा। हरिजन महिलाएं पैरों में भी चांदी-सोने के आभूषण पहन सकती हैं। बाल-विवाह करना दंडनीय अपराध होगा। वगैरह। महाराज की न्यायप्रियता मशहूर थी। एक इमारत, जिसमें तहसीलदार रहते थे और तहसील का काम भी होता था, वह एक विधवा की संपत्ति थी। तहसीलदार किराया नहीं देता था। विधवा ने दावा कर दिया। सब अदालतों में, यहां तक कि दीवान की अदालत में भी, वह हार गई। अंत में महाराज की अदालत में पहुंची। महाराज का फैसला विधवा के पक्ष में गया।

महाराज दौरे पर निकलते, तो कितने लोग कुछ-न-कुछ प्रार्थना करने के लिए पीछे लग जाते थे। एक बार एक किसान एक चार साल के छोटे बच्चे के साथ कैंप के पीछे लग गया। ए० डी० सी० ने उसे महाराज से मिलवा दिया। एक

ठाकुर जो किसान के इलाके का जागीर दार भी था, उसने किसान की औरत को बहलाकर अपने घर रख लिया था। किसान ने अपने चार साल के लड़के को ले जाकर ठाकुर के पैरों पर रख दिया, लेकिन जागीरदार पर कोई असर नहीं। किसान मुकदमा नहीं कर सकता था। गवाही कौन देता जागीरदार के खिलाफ! निराश बैठा था कि महाराज की सवारी के उधर आने की खबर सुनी और वह पीछे लग गया। महाराज ने उसकी दुःख-भरी कहानी सुनी। उनकी मुद्रा गंभीर हो गई। फौरन ठाकुर की पुकार की गई। ठाकुर मुकर गया। पास का दूसरा ठाकुर भी उसी की तरफ बोला। गांव का एक अहीर किसी तरह खुद को बचा ले गया—'मुझे कुछ मालुम नहीं सरकार।' महाराज ने तत्काल तहसील-दार और अपने ए० डी० सी० को ठाकुर के घर की तलाशी लेने की आज्ञा दी। औरत वहीं थी। महाराज के क्रोध का पारा न रहा। ठाकुर ने बड़ा भारी सामाजिक अपराध किया था। एक बच्चे से मां छीनना और एक गरीब किसान से उसकी स्त्री। फिर राजा के आगे झूठ बोलना। ठाकुर और उसके झूठे गवाहों की मुश्कें बांधी गईं और खूब हंटर लगाए गए···सबके सामने···

महाराज के न्याय के बारे में इस तरह के ढेरों किस्से थे।

प्रजा में बेहद प्रिय, रियासत में नए-नए प्रयोग करने के हमेशा इच्छुक, हर चीज में दत्तचित्त। फिर भी महाराज का मन नहीं लगता था। बाहर जो कुछ हो रहा था, उसमें एकदम एकरस दिखते थे, लेकिन अंदर ही अंदर जाने कहां भटकते होते। उन्हें पूरी तरह कुछ भी न डुबा पाता। न शराब, न दरबार और न ही औरत। अंदर एक घबराहट-सी बराबर चलती रहती···कोई आशंका, जिसे वह साफ-साफ कभी न देख पाते।

दशहरे का दिन था। महाराज की सवारी पहले महल से सीधा काल-भैरव के दर्शन को और फिर शहर में निकलती

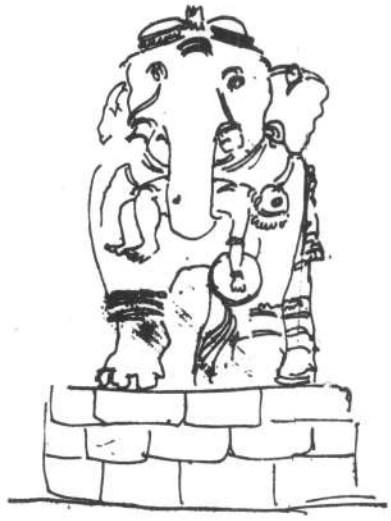

थी। इस पर्व के लिए सवेरे से ही धूम-धाम शुरू हो जाती। सिलाखाना, बग्घीखाना, मोटरखाना और घुड़साल··· सब तरफ तैयारियां की दौड़-प-दौड़। सवारी में एक से एक पुरानी चीजें निकालकर शामिल हो जाती थीं—तरह-तरह की बग्घियां, पीनस, पालकी, और नहीं तो खाली ही चलते थे जुलूस के साथ-साथ। सिलाखाने से पुराने हथियार निकालकर चमकाए जाते और फिर जुलूस में शामिल किए जाते थे। मंदिर में पूजा होती। महाराज अपनी पुश्तैनी तलवार भैरों बब्बा के सामने रख देते। आशीर्वाद लेते। बाहर निकल-कर दान करते। पहले कभी दान में गिन्नियां दी जाती थीं। अब सिर्फ कल-दार या पत्तियां।

पूजा के बाद सवारी शहर से गुज-रती हुई मेले के लिए किले के बगल वाले मैदान की तरफ जा रही थी। मैदान खचाखच भरा हुआ था। सारी रियासत इस दिन उमड़कर पहुंचती थी वहां। मैदान से थोड़ा हटकर जहां-तहां ठिली हुई बैलगाड़ियां थीं जिन पर आस-पास के गांवों से लोग भर-भरकर पहुंचे थे। मैदान में तीन तरफ पब्लिक के बैठने का इंतजाम था। सामने किले की तरफ दरबारी लोगों के लिए कुर्सियां लगी हुई थीं। वहीं ऊपर महाराज का मंच था। बीचों-बीच मैदान का एक लंबा-चौड़ा टुकड़ा खेल-कूद के लिए निकाला गया था। चारों तरफ दर्शकों की सुरक्षा के लिए रस्से के फंटे थे। मैदान के किले वाले छोर पर एक किनारे रावण, मेघ-नाद और कुंभकर्ण के भीमकाय पुतले खड़े थे। जैसे-जैसे सवारी के आगे-आगे चलने वाले बैंड, दुंदुभी और नगाड़ों की मिली-जुली आवाजें पास आती गईं, महाराज के दर्शन के लिए लालायित भीड़ में लहरियां-सी उठने लगीं। सब अपनी-अपनी गर्दनों को सारस की तरह तानकर उस तरफ देखने की कोशिश करने लगे जिधर से आवाजें आ रही थीं।

आखिर महाराज का हाथी मैदान के अहाते में घुसा। बड़े-बड़े दांत सोने से मढ़े हुए। भारी-भरकम पैरों पर सोने का रंग। झपकती आंखों के चारों तरफ चटख सेंदूर। सूंड पर रंग-बिरंगी चित्रकारी। माथे पर स्वर्ण चूर्ण की लेप और गर्दन पर झूलती चांदी की घंटियां, जो हाथी की मस्त चाल के साथ-साथ बहुत ही मीठी आवाज करती थीं···आवाज, जो अक्सर शोर-गुल में दब जाती। सजे हुए हौदे पर चमकता हुआ सफेद-सफेद छोटा-सा सिंहासन, जिस पर महाराज थे पारंपरिक वेशभूषा में—साफा, साफे पर कलगी, कमर में झूलती तलवार। चेहरा मंद-मंद मुस्कान से दिपता हुआ। कुल मिलाकर एक सजी हुई मूर्ति। पीछे थोड़ा निचाई पर रखी कुर्सी में सेनापति जंडैल साब जो दूर के रिश्ते से महाराज के भाई भी थे। झबरी मूंछें। फौजी पोशाक। एक तरफ तगमे ही तगमे। हाथ में बेंत। फौज रिया-सत में नाममात्र की थी। अंग्रेज सरकार द्वारा दी गई सुरक्षा की वजह से जरूरत भी नहीं थी। फिर भी जो भी थी, उसके वह जनरल थे और उस शान को हर पल साथ लिये चलते थे। सभी उन्हें जंडैल साब कहकर जानते थे।

हौदे के सामने स्टेट का एंबलम था···दो तलवारों के बीच मुंह बाए बैठा एक शेर।

महाराज ने आसन ग्रहण किया। तोपें दगीं और मैदान के बीचों-बीच शुरू हो गए एक से एक करतब। लाठियों की खटाखट। तलवारबाजी। रस्सी पर चलती लड़की। स्कूली लड़के-लड़कियों के पिरामिड। फटफटियां पर जंप। घुड़सवारी की अदाएं। और भी जाने क्या-क्या। खुरच-खुरचकर धूल ऊपर आ रही थी। आखिरी नंबर पर हाथियों का खेल था।

विशेष मेहमानों के लिए पागल हाथी का शो था। कामातुर हाथी ही पागल होता है, इसलिए महीनों पहले से हाथी को अलग रखा जाता था। इस तरह कि खेल के समय के आसपास वह पागल हो जाए। ऊपर से कुछ इंजेक्शन भी दिए जाते थे, ताकि पागलपन जल्दी चढ़े। पागल हाथी का दृश्य बड़ा ही दर्दनाक होता था—चार मोटे-मोटे खंभों से बंधे हुए चारों पैर। जंजीरें ही जंजीरें। उनसे जूझता-खीझता हुआ वह जीव। आंखों से गिरते मोटे-मोटे आंसू और मस्तक पर गोंद से बड़े-बड़े धब्बों-सा जहां-तहां चिपका हुआ मद। इस हाथी के लिए अलग स्टाफ होता था—एक महावत, दो रखवाली करने वाले, चार रसोइए और उसके बाड़े को साफ करने के लिए तीस जमादार। बाड़े से खेल के मैदान में उतारने का काम बड़ा ही खतरनाक था। जरा-सी चूक और जान जा सकती थी। बचाव के लिए महावत अपने शरीर पर ग्रीस और साबुन मल लेता था, कभी-कभी कोई खास तेल भी, ताकि हाथी की सूंड किसी हिस्से में ठहर न सके, फिसल जाए।

पर वह खेल खतरनाक था, इसलिए सिर्फ खास मौकों के लिए था। ऐसा कभी नहीं हुआ कि पागल हाथी निकल गया हो और दो-चार जानें न गई हों। दशहरे के लिए हाथियों की छेड़छाड़ का खेल ही रखा जाता था, क्योंकि इसमें उतना जोखिम नहीं था। हाथियों को मस्त करके उतारा जाता था मैदान में। हाथियों के साथ उतरते थे दो-चार सांटमार, दो पटाखा छुड़ाने वाले और दो-तीन लोहे की कीलों वाले जाल उठाए हुए लोग। सांटमार छुट्टा हाथी के पास जाकर सांट मारता और हाथी को खिजाता था। हाथी उसकी तरफ झपटता। तब पीछे का सांटमार पीछे से खिजाता। हाथी पलटकर उसकी तरफ झपटता। जब हाथी किसी सांटमार के बहुत करीब आ जाता, तो पटाखे वाला पटाखा छोड़ता। हाथी बिचककर रुक जाता। अगर इससे भी हाथी न रुका, तो कंटीले जाल वाला आदमी फुर्ती से आगे बढ़कर लोहे के तारों और कांटों से बना हुआ जाल हाथी के पैरों के आगे फेंक देता। हाथी के पैरों में जाल की कीलें गड़तीं और वह तकलीफ की वजह से फिर रुक ही जाता था।

इसके अलावा चारों तरफ बंदूक लिये निशानेबाज बैठे होते थे, ताकि कोई हाथी अगर बहुत ही बिगड़ जाए, तो मार भी दिया जाए।

हाथी आ गया था। उसकी चाल साधारण थी। तरंग में नहीं आया था शायद। सांटमार और उसके सहायक नर्वस हो रहे थे। खेल ठीक-ठाक हो जाए, तो महाराज की तरफ से बख्शीश मिलेगी। ठीक से नहीं दिखाया जा सका, तो शायद महाराज का कोप-भाजन भी बनना पड़े। हाथी को तैयार करने के खयाल से फौरन कुछ और नशापत्ती का इंतजाम किया गया। सूंड उठाकर उसके मुंह में ताड़-ताड़ चीजें डाली जाने लगीं···लेकिन हाथी था कि एकदम जड़ खड़ा था···कहीं कुछ असर ही नहीं।

सांटमार और उसके साथी हाथी को तरह-तरह से डपटने और कचोटने लगे। तभी एकाएक पता नहीं क्या हुआ? हाथी पर तरंग चढ़ गई या कि कोंचने से वह एकाएक खीज उठा। वह तेजी से सूंड हिलाने लगा। किसी बेचैनी में फड़फड़ा रहा था। खेल शुरू हो गया था।

हाथी सरपट सामने वाले सांटमार की तरफ भागा, पीछे के सांटमार ने अपनी तरफ बहुत कोंचा पर हाथी नहीं पलटा। पटाखे छोड़े गए। जाल भी फेंका गया। पर हाथी ने किसी की परवाह न की और गुस्से में पागल वह सामने वाले की तरफ ही भागता चला गया। मैदान में खेल खिलाने के लिए जितने आदमी उतरे हुए थे, सबके चेहरों पर हवाइयां उड़ने लगीं। वे बदहवास-से बिगड़े हाथी के पीछे दौड़ रहे थे। जब तक हाथी के चारों तरफ कंटीले जाल डाले गए, उसके पैरों को कसा जा सका, तब तक हाथी ने सूंड से भागते सांटमार को उठा लिया और एक चिंघाड़ के साथ उसे पैर के नीचे दबाकर चीर डाला। आदमी के मुंह से एक भयानक चीख निकली; मौत की चीख। उसके साथ ही चारों तरफ सन्नाटा छा गया···शोर गुल के बाद सन्नाटा। और भी सहमा-सहमा। गिरने की आवाज। चीख और फिर सन्नाटा। आदमी का चिरा हुआ शरीर वहीं पड़ा था। हाथी आगे निकल गया था। सांटमार अपने साथी की लाश की तरफ दौड़े। एक ने सिर पकड़ा, दूसरे ने पैर और दौड़ते हुए से उसे बटोरकर खेल के मैदान से बाहर ले गए। रस्सी की दीवार के बाहर डरी-डरी-सी फुसफुसाहट चल निकली। निशानेबाज देखते रह गए। किसी ने गोली चला दी होती, तो शायद आदमी बच जाता।

महाराज ने जैसे कुछ नहीं देखा। वह जानते थे, ऐसा हो जाता है अक्सर। और इसका इलाज भी बनाया था। मरने वाले के बीवी-बच्चों को तगड़ा मुआवजा दे दिया जाएगा—इतना कि अगली तीन पीढ़ियों के लिए भी परिवार को चिंतित होने की जरूरत नहीं थी। तो फिर क्या फर्क पड़ता है कि आदमी है या नहीं! रहता, तो इतना कभी न कमा पाता। हिज़ हाइनेस की नजरें तब मंच के नीचे···एकदम आगे की पंक्ति पर लगी हुई थीं। कोने पर बैठी एक लड़की—उम्र कोई तेरह साल के आसपास होगी। दांतों में उंगली दबाए सामने देख रही थी। शरीर बेचैनी में हर पल हिलता था बरसात में सिहरती पत्ती की तरह। कभी इस मुद्रा में बैठती, तो कभी उसमें। चेहरे पर कुंवारेपन की

लेखक का वक्तव्य

दरअसल, शुरू में उपन्यास लिखने जैसा इरादा नहीं था। शुरुआत एक कहानी के रूप में हुई—एक व्यक्ति के क्रमशः अस्तव्यस्त होते जाने की गाथा···अस्तव्यस्तता, जो किसी जीवन में सीधे-सीधे परिवेश की वजह से पैदा होती है। व्यक्ति के टूटने का आयाम उसके निजी दायरे या परिवार के टूटने का भी होता है (कम से कम भारतीय परिवेश में तो जरूर ही, क्योंकि हमारे यहाँ व्यक्ति उस रूप में नहीं होता जिसमें वह पश्चिमी देशों में होता है—परिवार से कटी हुई, अपने आप में पूर्ण एक इकाई)। उस पहले वृत्त तक पहुंचते-पहुंचते कहानी एक लघु उपन्यास का रूप लेने लगी थी। मैं खुद को बहने देना चाहता था। बात थोड़ा फैली, तो दिखाई दिया कि छोटा-वह परिवार, दरअसल, इतिहास के दो पाटों के बीच से गुजरा और गुजरते हुए टूटा है···कुछ-कुछ वैसे ही जैसे किसी पूरे शरीर का एक-एक हिस्सा अलग-अलग कटकर गिरता जाए।

यहां पहुंचकर मामला विशुद्ध सामाजिक न होकर ऐतिहासिक हो गया था—वे मूल्य जो स्वतंत्रता के पहले थे, कैसे बदलते चले गए, वह प्रशासनिक ढांचा जो स्वतंत्रता के पहले था, वह किस हद तक बदला और किस हद तक बदला नहीं जा सका, आदमी की हस्ती जो पहले थी और जो हुई···इसी तरह के कई सवालों से जूझना होने लगा था और इसके लिए इतिहास के उस दौर में घुसना जरूरी हो गया। स्वतंत्रता के ठीक पहले से अब तक जो भारत के एक औसत आदमी के ऊपर से गुजरा है, उसका असर सचेतना से ज्यादा अवचेतन पर हुआ है इसलिए एक आयाम यह भी खुला—व्यक्ति का अवचेतन और उस स्तर पर महसूस की गई टूटन। कुल मिलाकर मामला अब तक काफी पेचीदा हो गया था। 'हुजूर दरबार' की बुनावट भी इसीलिए पेचीदा ही हो गई है। शायद मैंने अपनी तरफ से साफ करने की कोशिश भी नहीं की, क्योंकि मुझे उपन्यास विधा का असली चैलेंज यही लगता है कि उसमें जीवन की विराटता अपने सारे उलझावों के साथ उभरकर आए।

पता नहीं कितना कामयाब हुआ हूं! इतने महत्वाकांक्षी प्रयास में शायद सफल हुआ भी नहीं जा सकता! पर उपन्यास लिखने के दौरान इस महत्वाकांक्षा से टकराते रहने का सुख मेरा रहा है।

एक पिता था, जो हर समस्या के निदान के लिए राजा की तरफ देखने का अभ्यस्त था। दूसरा पुत्र था, जिसकी नजरें उस नई शक्ति की तरफ थीं जो रियासतों की जगह आने वाली थी। उपन्यास के अंत में एक स्थिति में पहुंचकर—

"बापू रूआँसे हो आए। आँखों में वेदना ही वेदना···यह दिन भी देखने थे। लाचार-से वह मेरी तरफ तक रहे थे—कहाँ है तुम्हारा नया राजा जिससे फरियाद की जा सके, जो न्याय करे···और मैं लाचार उनकी तरफ देख रहा था, उनके भी पार राजमहल की तरफ जो अब सिर्फ एक म्यूजियम रह गया था···"

यह तकलीफ आज भी मुझे झिंझोड़ती है, तब भी जब मैं उपन्यास से धीरे-धीरे बाहर निकलने के क्रम में हूं।

रक्तिमा ही रक्तिमा···खून···जैसे किसी कोने से चुटकी काटो, तो पल्ल से बह निकलेगा। महाराज ने एक से एक देखी थीं। सुंदरियां ही देखी थीं जब से होश संभाला था। लेकिन उन्हें ऐसा लगा जैसे उस जैसा अब तक न देखा था। जैसे वह किसी आदमी की संतान नहीं, कुंड में पिछली रात ही फूटी कमल की बोंड़ी थी—पानी में नहाई हुई, हवा के झोंकों में थिरकती। उम्र भी क्या हवा है! वह हिल गए। अंदर कोई मथानी चलने लगी थी। उनकी नजरें वापस हो अपने इर्द-गिर्द गुमाश्तों को ढूंढ़ने लगीं। एक पास ही था—महाराज के इशारों पर बराबर नजर टिकाए हुए। महाराज की हर पलक को पहचानने का उसे खासा अभ्यास था। पहुंच गया। महाराज ने उसके कान में कुछ कहा। वह सुनता रहा। सामने देखता रहा ··आगे की पंक्ति की तरफ।

समय से कुछ पहले ही कुंभकर्ण-मेघनाद के पुतले जल उठे। पटाखों के शोर-शराबे, रोशनी और धुंए की आड़ में हाथी को मैदान से बाहर ले जाया गया। लोग जलते पुतलों को देखने लगे थे।

अंधेरा अब उजला हो-होकर नीचे गिर रहा था।

राधा बाई दशहरे का मेला देखने रियासत में अपने मामा के यहां आई थी। मामा महल के लिए कपड़े वगैरह सिलने वालों में से थे। राधा बाई के मां-बाप पास ही एक कस्बे में रहते थे जो रियासत से सटा होते हुए भी रियासत के बाहर था। मामा राधाबाई का पता-ठिकाना बताकर एक तरफ सरक लिये और अगले दिन ही राधा बाई को अपने घर भिजवा दिया। आग को घर में रखना कहां तक मुनासिब था! एक सुबह महाराज की तरफ से कीमती तोहफों के साथ गुमाश्ते राधा बाई के घर चुपचाप जा पहुंचे। मां-बाप की झोली भर दी और उन्हें राजी कर लिया। महाराज के खिलाफ जाने की यों भी किसकी हिम्मत थी।

"लड़की की उम्र कच्ची है···" एक-मात्रव ही शंका थी जो झिझकते हुए उठाई गई।

"महाराज जानते हैं···तब तक राधा बाई महाराज से दूर लेकिन उनकी खास मेहमान बनकर रंगमहल में रहेगी. आप निश्चित रहें···और आप महाराज के परिवार के ही हो गए। आपके यहां कोई कमी नहीं होगी।"

तय हो गया। एक रात राधा बाई अपने मामा के यहां जाने के लिए फिर निकली। वहीं से उनका स्थानांतरण रंगमहल के लिए हो गया·· चुपचाप।

राजनीतिक कार्यवाहियों का औपन्यासिक संघटन

महाभोज

—विनय

''''महाभोज' समय-भित्ति पर चलता हुआ अवकाश-भित्ति की तरफ जाता है और महज रिपोर्ट न होकर एक सर्जनात्मक कृति 'उपन्यास' बनता है। कोई भी सर्जनात्मक कृति अपने संसार में ऐसे रूपों का निर्माण करती है जो आपके संसार की सचाइयों से अवगत करा सके और संवेदना पर चोट करती हुई समझ पर भी दस्तक दे। मन्नू भंडारी का उपन्यास 'महाभोज' ये दोनों काम करता है।

कथानक बिल्कुल हमारा परिचित है। लगता है कि हम उपन्यास नहीं पढ़ रहे, बल्कि वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था की रिपोर्ट पढ़ रहे हैं।

शहर से लगभग तीस किलोमीटर दूर सरोहा गांव उप-चुनाव के कारण अकस्मात महत्वपूर्ण हो उठा है। मुख्य मंत्री ने लखनसिंह को प्रत्याशी बनाया है—एक मामूली व्यक्तित्व, जो पिछले दस वर्षों से मुख्य मंत्री रहे सुकुल बाबू के विरोध में चुनाव लड़ रहा है। इस चुनाव के कारण बिसेसर की मौत भी महत्वपूर्ण हो उठी है और उसके साथ हरिजन बस्ती के जलने की घटना भी। वर्तमान मुख्य मंत्री दा साहब हर मुमकिन तरीके से चुनाव जीतना चाहते हैं और गांव में जोरावर सिंह उनके पक्ष में है। वही उनकी शक्ति भी है।'''बिसेसर की मौत, पहली खोज के मुताबिक आत्महत्या घोषित कर दी जाती है और दोनों पक्ष इस मौत को अपने हक में तब्दील करना चाहते हैं। क्रूर राजनीतिक हथकंडे सब तरफ से अपनाए जा रहे हैं। '''एक एस० पी० ईमानदारी से बिसेसर की मौत की जांच-पड़ताल करता है। बिसेसर का मित्र बिंदा पूरी तरह से आक्रोशी मुद्रा में है, पर उसके बयान पर 'खोज' का निर्णय बदल जाता है। ईमानदार एस० पी० इसे आत्महत्या के रूप में प्रस्तुत करके रिपोर्ट देता है। बिंदा की पत्नी रुक्मा बिंदा को सच बोलने से रोकती है, पर वह सच बोल कर जेल जाता है और एस० पी० सत्य की खोज करके सस्पेंड होता है। व्यवस्था के द्वारा खोजे सत्य को जनता आश्चर्य-चकित होकर देखती है। वह जनता है, अतः अधिकारियों द्वारा खोजा सत्य उसे मानना ही पड़ता है।

हां, हम एक सपाट कहानी पढ़ रहे हैं। लगता है कि यह भी कोई उपन्यास है? सारी बातें जो हम आए दिन देखते हैं, भुगतते हैं, उनमें से कुछ एक जगह रख दी गई हैं, जैसे किसी मुख्य मंत्री के शासनकाल की रिपोर्ट तैयार की गई हो। लेकिन ये दो स्थितियां हैं जिनमें हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि एक शक्ति नंगी होकर किस तरह मानवीय स्थितियों को नियंत्रित करती है। राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों की 'एंपायरी' किसी खिलाड़ी को 'संदेह का लाभ' देती है और उन्हीं स्थितियों में किसी को बेधड़क आउट कर देती है। इस निर्णय से बनी अच्छी-बुरी, सुखद-दुखद स्थितियों में उस दुर्निवार यथार्थ की अभिव्यक्ति हुई है जिसे हम सामाजिक यथार्थ कहते हैं, राजनीतिक यथार्थ कहते हैं। इस यथार्थ से हमारा साक्षात्कार आए दिन होता है। कभी हम खुद भी इसका एक अंग होते हैं। हममें से कितने ही हैं जिन्हें बिसेसर की मौत मार दिया गया; कितने ही हैं जिन्हें बिंदा की तरह जेल में डाल दिया गया; कितने ही हैं जो हीरा की तरह मन का सच भी नहीं बोल सकते'''और रुक्माओं की तो गिनती ही नहीं। यदि इसी तरह से सोचा जाए, तो लगेगा कि **महाभोज** एक दल-विशेष के शासनकाल का नंगा चिट्ठा है। पर किसी दल विशेष का ही शासन-काल क्यों? कोई भी शासन क्या इन हथकंडों से परे रह सका है? चाहे पूंजीवादी संस्थान हो या समाजवादी, व्यावहारिक रूप में आकर सबका आचरण एक-सा हो जाता है। सिद्धांतों की निर्मलता, गरिमा शक्तिशाली व्यक्तिवाद के नीचे दब जाती है। यह भी तो एक नजरिया है सोचने का और यदि इस दृष्टि से देखा जाए, तो **महाभोज** समय-भित्ति पर चलता हुआ अवकाश-भित्ति की तरफ आता है और महज रिपोर्ट न होकर एक सर्जनात्मक कृति 'उपन्यास' बनता है। कोई भी सर्जनात्मक कृति अपने संसार में ऐसे रूपों का निर्माण करती है जो आपके संसार की सचाइयों से अवगत करा सके और संवेदना पर चोट करती हुई समझ पर भी दस्तक दे। मन्नू भंडारी का उपन्यास **महाभोज** आंशिक रूप में ये दोनों काम करता है।

कला **सैंसुरी मैनीफैस्टेशन आफ दी**

आइडिया ही है और इसी बात के तहत वह बाह्य यथार्थ का दस्तावेज भी, जिसमें आंतरिक यथार्थ अंतर्धारा के रूप में रहता है। पेंटर जान वेजाइने ने कहा है कि "बाह्य यथार्थ से जान-बूझकर किनारा करना अपने आपको अस्वीकार करना है—एक आत्महत्या का रूप"। इसी बात को मन्नू भंडारी ने भी इस उपन्यास के प्रेरणा बिंदु के रूप में स्वीकारा है : "....जब घर में आग लगी हो, तो सिर्फ अपने अंतर्जगत में बने रहना या उसी का प्रकाशन करना क्या खुद ही अप्रासंगिक, हास्यास्पद और किसी हद तक अश्लील नहीं लगने लगता ?" स्पष्ट है कि लेखिका बाह्य जगत के यथार्थ से टकरा रही है। अंतर्जगत उसके लेखकीय आशय में नहीं आता। किंतु बाह्य यथार्थ एक सापेक्ष सचाई तब तक नहीं बनता जब तक उसके साथ अंतर का द्वंद्व न हो। बाह्य और आंतरिक यथार्थ सृजनात्मक आशय के लिए दो अलग संसारों की सृष्टि नहीं करते हैं; वे एक अंतर्संबंध बनाते हैं जिससे मानवीय अनुभव अपनी समग्रता में व्यक्त हो सके। **महाभोज** में यह समग्रता नहीं आ पाई, फिर भी यह टकराहट मानवीय स्थितियों के बदलते रूप को व्यक्त करती है और साथ ही राजनीतिक और व्यवस्था की एकाधिकारिता से खंडित एक कालखंड में उसकी त्रासदी को उजागर करती है, जो आंशिक रूप में ही सही, मानवीय अनुभव से भी जुड़ती है।

यह उपन्यास राजनीतिक घटनाचक्र को केंद्र में रखकर लिखा गया है और किसी भी राजनीतिक दर्शन की पक्षधरता स्पष्ट रूप से घोषित नहीं की गई। इसे कुछ पाठक उपन्यास की दुर्बलता भी मान सकते हैं, पर लेखक के चिंतन की स्वायत्तता में जब किसी भी राजनीतिक दर्शन की स्वीकृति अकाट्य रूप से नहीं हो, तब उसे बाध्य नहीं किया जा सकता। ऐसी बाध्यता सर्जनात्मक स्वायत्तता पर कृत्रिम अंकुश लगाती है और मन्नू भंडारी ने उस अंकुश की उपेक्षा की है जो अत्यंत सहज और अनिवार्य भी है। वह कला और विचारधारा के अंतर्संबंधों के प्रति सतर्क होते हुए बहुत कुछ पाठकीय सोच पर छोड़ देती हैं जिसकी प्रामाणिकता उनको खटकती है जो अनिवार्यतः विचारधारा की जड़ता में नहीं बंधे हैं। इस कृति में कथानक का सौंदर्य उसकी अंतःक्रियाओं से निर्धारित होता है। अपने समय की मारक स्थितियां, अनुभव इकहरे होकर नहीं चलते, बल्कि परस्पर गुंथकर एक सहज सौंदर्य बोध को व्यक्त करते हैं। बिसेसर की मौत सुकुल बाबू अपने रूप में देखते हैं और दा साहब अपने रूप में। पर यह मौत दोनों के अस्तित्व से सामने एक प्रश्न खड़ा कर देती है। विडंबना यह है कि जो प्रश्न जितने गहरे मानवीय स्तर पर उत्तरित होना चाहिए था, वह उतने ही उथले राजनीतिक स्तर पर व्याख्यायित हुआ।

हम लेखिका से प्रश्न कर सकते हैं कि इतने तात्कालिक विषय को, इतनी 'पर्टीकुलरिटी' को वह किस तरह से 'यूनीवर्सिलिटी' में डालने का उपक्रम कर सकी हैं ? उत्तर शायद यह होगा कि एक ही पक्ष के दो रूप हमारे सामने आ जाते हैं—एक पक्ष है डी० आई० जी० के रूप में पदोन्नति और दूसरा एस० पी० की मुअत्तिली। एस० पी० की मुअत्तिली कांक्रीट की स्थिति व्यापक बना देता है और तात्कालिकता को भविष्य की मानवीयता के साथ जोड़ देता है। दोनों के मूल में अन्याय है। एक अन्याय करके सुख भोगता है, दूसरा अन्याय का शिकार होकर अकेले संघर्ष का रास्ता अपनाता है। लेकिन एक पूरी प्रक्रिया से गुजरकर अन्याय के विरोध में खड़े व्यक्ति को फिर व्यक्ति नहीं रहना चाहिए, उसे वर्ग बन जाना चाहिए, तब उसके साथ चाहे कोई जुलूस हो या न हो।

लेकिन एस० पी० पूरी तरह से वर्ग नहीं बन पाता। चूंकि लेखिका का बुनियादी सरोकार (इस उपन्यास के संदर्भ में) राजनीतिक षड्यंत्र को खोलना है, अतः वह उसी धरातल पर सारी औपन्यासिक क्रियाएं संयोजित करती है। हां, इसी बीच सक्सेना के अंतर्जगत में यकायक दिनेश कौंध जाता है। वह एक बार दिनेश को अन्याय का विरोध करते हुए अकेला छोड़ आए थे। अब वह उसे अकेला नहीं छोड़ेंगे। यह उपन्यास का ऐसा स्थल है जहां पर घटनाओं की क्रियाशीलता के साथ मानवीय अनुभव बहुत तेजी से उभरता है और संवेदना को थोड़ा-सा घनत्व देता है। "डी० आई० जी० की इस सख्त और ठंडी आवाज ने सक्सेना के थोड़ी देर पहले किए संकल्प को कहीं से भी ठंडा नहीं होने दिया। नहीं, इस बार वह दिनेश को अकेला नहीं छोड़ेंगे। साथ देंगे अंत तक।" और दिनेश के अतीत को मन में लिये एस० पी० एक पूरे भावनात्मक संसार को समेटे बिसू की मौत और आगजनी के प्रमाण के कागज लेकर रुक्मा के साथ दिल्ली की ओर चल देता है। इस यात्रा से पहले बिसू और हीरा की आंखों से बहते पानी में जिंदा रहने की कोशिश करता है या बिंदा की इस चिलल्हट में "तुमने बिसू को मार डाला, मुझे भी मार डालो, लेकिन देखना बिसू की इच्छा को कोई नहीं मार सकता।" पूरे उपन्यास की घटनात्मकता में संवेदना का संसार, जो बार-बार लुप्त होता रहा है, अंत में आकर पाठक की चेतना पर हावी हो जाता है और यहीं लेखिका समय को पारकर अवकाश में संचरण करती है तथा इसी स्थल पर आकर एक निरंतर संघर्ष-चेतना से संपन्न अर्थवत्ता की प्राप्ति का संकेत मिलता है। यदि बिंदा या एस० पी० वर्ग बन सकते, तो यह अर्थवत्ता अधिक व्यापक हो सकती थी।

प्रस्तुत उपन्यास में आधुनिक मनुष्य से जुड़ा एक यह सच इसकी संपूर्ण बुनावट में उभरता है कि राजनीतिक परिवेश

समसामयिक चुनाव राजनीति का दस्तावेज

रत्न लाल शर्मा

महाभोज में मन्नू भंडारी अपनी लकीर से पहली बार हटी हैं और उन्होंने आज के बदलते हुए जीवन-यथार्थ की चुनौती को स्वीकार किया है। यह उपन्यास अहसास कराता है कि हमारे समाज में राजनीति और पूंजीपति पूरी तरह हावी हैं और ये दोनों तत्व मिलकर व्यवस्था का संचालन करते हैं।

लेखिका ने अपने दिशा-परिवर्तन को स्पष्ट करने के लिए उपन्यास के शुरू में एक छोटा-सा वक्तव्य दिया है : **अपने व्यक्तिगत दुख-दर्द, अंतर्द्वंद्व या आंतरिक "नाटक" को देखना बहुत महत्वपूर्ण, सुखद और आश्वस्तिदायक तो मुझे भी लगता है, मगर जब घर में आग लगी हो, तो सिर्फ अपने अंतर्जगत में बने रहना या उसी का प्रकाशन करना क्या खुद ही अप्रासंगिक, हास्यास्पद**

और राजनीति की सक्रिय भूमिका मानव नियति का संचालन करती है; संचालन ही नहीं करती, उसकी नियति को निर्धारित भी करती है। लेकिन फिर एक सवाल उपजता है कि यह संचालन-निर्धारण लेखिका को राजनीतिक अवसरवाद, षड्यंत्री मुद्रा की अभिव्यक्ति तक ही क्यों रोक लेता है; उसके आगे एक राजनीतिक दर्शन की व्याख्या और वर्तमान राजनीतिक सिद्धांत और व्यवहार की असंगति का द्वंद्व उसकी रचनाशीलता का सरोकार क्यों नहीं बन पाता? शायद इसीलिए उपन्यास के चरित्र-विधान में हीरा की पराभूत मानसिकता महेश की तटस्थ लगावशीलता, बिंदा का विरोध-विद्रोह अलग-अलग स्तर पर शिकार बने लोगों की कहानी बन जाता है, भ्रष्ट राजनीति-प्रेरित नियति से निकलकर एक सही राजनीति-प्रेरित मानव नियति की खोज का प्रयास नहीं बन पाता। और, मैं समझता हूं कि यह कमी (जो मुझे लगी है) लेखिका के 'अनकमिटेड' एटीट्यूड का ही परिणाम नहीं, एक बहिर्मुखी रचना-दृष्टि के अर्थों को सीमित रूप में लेने की स्थिति का द्योतक है। यह स्थिति तब पैदा होती है जब कोई भी कलाकार एक अतिरिक्त सजगता से यथार्थ के एक रूप को नजरंदाज करता है और दूसरे को जरूरत से ज्यादा तरजीह देता है। इस स्थिति में हम पूरे उपन्यास में एक राजनीतिक तनाव के बीच से तो गुजरते हैं, लेकिन औपन्यासिक तनाव के बीच से गुजरने का अवसर कम मिलता है।

हम मानते हैं कि कला यथार्थ को कंसेप्ट में नहीं, प्रतीकों, बिंबों, रूपकों में व्यक्त करती है और इस उपन्यास में खंड-बिंबों में उभरे यथार्थ से परिचय मिलता है और काफी देर तक परस्पर गुंथी घटनात्मकता अंत में आकर **महाभोज** के रूपक को विभिन्न दृश्य-बंधों में उभारती है, जिसका 'एक रूप' संयोजन विभिन्न सांकेतिक स्थितियों से प्रकट होता है। अपने रूपक को स्पष्ट करने के लिए ही लेखिका ने अंत में यह शिल्प लिया है। इसे मैं एक रूप की तलाश कह सकता हूं।

लेकिन यथार्थ का चित्रांकन मानवीय अंतरंगता में ही सर्जना का रूप लगता है। कहा गया है कि यथार्थ का चित्रांकन प्रत्यक्ष बाहरी वास्तविकता से अधिक होता है। सही यथार्थ तब शुरू होता है जब वह मनुष्य के आंतरिक संसार के सत्य को व्यक्त करता हुआ दिखता है जो मूलतः लेखक का आशय होता है। जैसा कि मैंने पहले कहा है, **महाभोज** यथार्थ के बाह्य रूप और अंतर्जगत के बीच एक सर्जनात्मक बिंदु नहीं ढूंढ़ पाया। केवल सक्सेना के चरित्र-विधान में उसकी झलक मिलती है। इस घटनात्मक उपन्यास में जहां-जहां भी मानवीय संवेदना को घनत्व मिलने वाले स्थल आए, वहीं-वहीं चीजें ऊपर से तैरकर निकल गईं। तब एक प्रश्न यह उभरता है कि बाहरी यथार्थ को आंतरिक यथार्थ के विरोध में कब तक लिया जाता रहेगा? क्या कोई ऐसा बाह्य यथार्थ है जो अंतर्जगत को प्रभावित न करे? या क्या कोई अंतर्जगत है जिसकी सत्ता बाह्य-निरपेक्ष हो? फिर व्यक्तिगत दुख-दर्द, अंतर्द्वंद्व या आंतरिक नाटक के विरोध में बाहरी परिवेश की सर्जनात्मकता पर विशिष्ट टिप्पणी का क्या अर्थ रह जाता है? क्या वह बाह्य जगत के प्रति—रचना-पूर्व, रचना में लीन रहते या रचना के बाद—तीनों स्थितियों में अतिरिक्त सजगता नहीं मानी जाएगी?

महाभोज की अपनी शक्तियां जितनी स्पष्ट और मुखर हैं, उसकी दुर्बलताएं भी उतनी ही बड़ी हैं। लेकिन यह उपन्यास पिछले वर्ष प्रकाशित उपन्यासों में अपनी अलग पहचान बनाता है। घटनात्मकता की त्वरा इस उपन्यास का सौंदर्य-विधान तय करती है, तो संवेदनात्मक घनत्व की कमी उस विधान में दरारें भी बना देती है। अंततः यह कृति एक काल-खंड में मानव अनुभव का दस्तावेज बनकर राजनीतिक कार्यवाहियों का औपन्यासिक संघटन बनकर रह जाती है। □

और किसी हद तक अश्लील नहीं लगने लगता ?

प्रश्न है, क्या आज के समाज की समस्याओं और उनके दबावों से अप्रभावित रहा जा सकता है ?

महाभोज पर एक यह आरोप लगाया जाता है कि इस उपन्यास का सारा संसार लेखिका के लिए अपरिचित है और उसे उस विषय को उठाने की क्या जरूरत थी जो उसकी रोजमर्रा की जिंदगी का हिस्सा नहीं है। दूसरा आरोप यह भी लगाया जाता है कि इसमें सब कुछ हमारा परिचित संसार है और लेखिका को सृजन का अवसर ही नहीं मिला।

स्पष्ट है कि ये दोनों आरोप एक-दूसरे के विरोधी हैं। क्या यह जरूरी है कि कथाकार हमारे अपरिचित संसार की ही कल्पना करे और हमारे परिचित संसार को अभिव्यक्ति न दे ? क्या परिचित संसार में सृजन नहीं हो सकता ?

समसामयिक राजनीति पर लिखने के कई खतरे हैं—एक : कथाकार दलगत राजनीति में संलग्न व सक्रिय हो सकता है और उसके निष्कर्ष पक्षपातपूर्ण, सीमित और एकतरफा हो सकते हैं। दो : रचना रिपोर्ट मात्र बनकर रह सकती है, जिसमें कथाकार की दुनिया का सृजन नहीं होता। तीन : रचना आज के लिए तो प्रासंगिक हो सकती है, पर वह कालजयी नहीं हो सकती। मन्नू भंडारी का कथाकार इन खतरों से जूझा है और अंततः समर्थ रहा है।

महाभोज का कार्यक्षेत्र सरोहा गांव है, जिसको केंद्र में रखकर सारी गतिविधियों का संचालन होता है। यह विधान सभा चुनाव-क्षेत्र है। वस्तुतः विधान सभा चुनाव-क्षेत्र बहुत बड़ा होता है, पर लेखिका ने सरोहा गांव के अलावा और किसी गांव या कस्बे का दृश्यांकन नहीं किया है। इससे उपन्यास का फलक छोटा हो गया है और जागरूक पाठक को अखरता है।

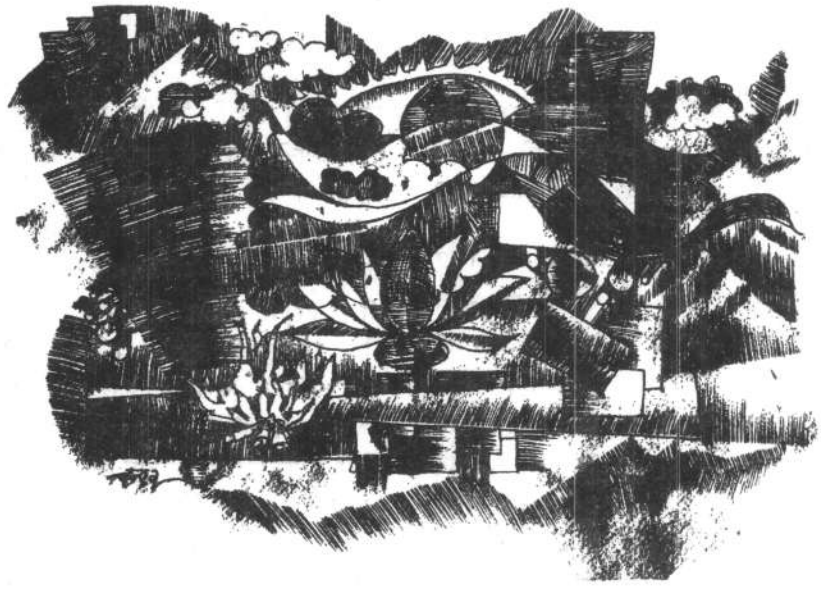

बिसू की मौत ने राजनीति के खिलाड़ियों (दा साहब, सुकुल बाबू, लोचन), पुलिस अधिकारी (डी.आई.जी.) पत्रकार ("मशाल" का संपादक दत्ता) आदि के लिए 'महाभोज' का अवसर पैदा कर दिया।

हरिजन टोले में आग लगा दी गई जिसमें अनेक लोग जिंदा जला दिए गए। मामला दब गया, पर न्याय का पक्ष लेकर बिसू उठ खड़ा हुआ। उसने प्रमाण इकट्ठे कर लिये और उन्हें लेकर न्याय की गुहार करने दिल्ली जाना ही चाहता था कि उसकी हत्या कर दी गई। इसे आत्महत्या करार देकर मामले को दबा दिया गया। इसके विरोध में बिंदा खड़ा हो गया और जब असंतोष बढ़ गया, तो मामला दुबारा खुला। जांच करने वाले एस. पी. सक्सेना ने इसे हत्या का मामला सिद्ध कर दिया, पर व्यवस्था ने सत्य का गला घोंट दिया। डी. आई. जी. की तैयार रिपोर्ट पर बिंदा को बिसू की हत्या के आरोप में गिरफ्तार कर लिया गया और सक्सेना को मुअत्तिल कर दिया गया। अंत में सक्सेना स्वयं इस अन्याय के विरोध में खड़ा हो गया और दुर्घटनाओं के प्रमाण लेकर बिंदा की पत्नी रुक्मा के साथ दिल्ली के लिए चल पड़ा।

महाभोज में समसामयिक जीवन के यथार्थ का चित्रण संवेदना के धरातल पर किया गया है, जिसमें लेखिका ने पात्रों को उभारा है, पर उसका ध्यान विशेष रूप से स्थितियों के चित्रण पर रहा है। इसका यथार्थ बड़ा कटु और दुखद है, पर लेखिका निराश नहीं है। वह सत्य और न्याय की लड़ाई को आगे भी जारी रखना चाहती है।

एक महत्वपूर्ण बात यह है कि कथा-लेखिका ने जन-जागरण की बात तो की है, पर यह विरोध संगठित विरोध नहीं बन पाया है।

उपन्यास में पुलिस सुपरिंटेंडेंट सक्सेना द्वारा मौके पर की गई जांच को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। इसने उपन्यास का बहुत बड़ा हिस्सा घेर लिया है। फलस्वरूप लेखिका ने उपन्यास के अंत को बहुत जल्दबाजी में घसीटा है।

यह उपन्यास महान होने की उपलब्धि से बहुत दूर है। फिर भी, यह समसामयिक चुनावी राजनीति का दस्तावेज तो है ही।

महाभोज : मन्नू भंडारी; राधाकृष्ण प्रकाशन; दिल्ली; अठारह रुपये।

राजेंद्र यादव से बातचीत (पृष्ठ 16 से आगे)

जुड़ता है, क्योंकि तुम बहुत सहज लेखक तो नहीं ही हो? फिर इतनी अधिक लोकप्रियता तुमने कैसे प्राप्त कर ली है?

बात सही है कि लिखना मेरे लिए बहुत सरल काम नहीं रहा। कुछ कहते हैं कि वह बहुत प्रयत्न-साध्य जैसा लगता है। उसकी वजह प्रयत्न में नहीं, बल्कि उस विषयवस्तु में है जिसे मैं एक साथ कई कोणों में उठाना चाहता हूं, कई स्तरों पर उठाना चाहता हूं, यानी, केवल कहानी कहने का लक्ष्य रखकर मुझे कभी संतोष नहीं हुआ। मुझे लगता है कि कहानी के माध्यम से अगर मैं कुछ कह नहीं पाता, या उसके भीतर की दूसरी तहों को नहीं पकड़ पाता, तो सिर्फ एक अच्छी, रोचक कहानी लिख देना ही अपने साथ न्याय करना नहीं है। शुरू से ही बहुत पढ़ने, बहुत सोचने, अपने साथ बहुत ज्यादा रहने के स्वभाव के कारण या भीतर एक भरा-पूरा जीवित संसार लेकर घूमने के कारण हमेशा मेरे मन में बहुत कुछ कहने की इच्छा होती थी; लिखते वक्त होती है। यही नहीं, चाहता हूं, उसे अनेक आयामों में पकड़ा जाए। साथ ही एक ऐसा विशेष कोण लिया जाए जो प्रतिनिधि हो और जिसके जरिए वह सब कुछ आ जाए। जैसे मेरा उपन्यास **शह और मात** बहुत सीधी-सरल प्रेम कहानी हो सकती थी, लेकिन उसमें मैंने एक बहुत जटिल समस्या दी है। लेखक और मनुष्य के बीच का रिश्ता। यानी कहां ये एक-दूसरे को मानते हैं; कहां एक-दूसरे को हराते हैं; कैसे आत्मीय संबंधों में व्यक्ति उतरता है; फिर कहां अचानक लेखक उछल खड़ा होता है। कुछ-कुछ इसी तरह का द्वंद्व टॉमस मान का भी रहा है। मगर समस्या को मैं अपने ढंग से अपने लिए समझना चाहता था। शायद इसीलिए इस उपन्यास की सारी संरचना बहुत जटिल हो गई है। इसमें मुझे सुविधा यह रही कि जिन्होंने मेरी कहानियां ऊपरी धरातल पर पढ़ीं, उनकी गहराई में जाने की कोशिश नहीं की, उन्हें कहानी का रस मिला। वे न तो बहुत गहरे उतरे, न उन्होंने इसकी चिंता की। हां, हो सकता है, उन्हें महसूस होता रहा हो कि सिर्फ कहानी ही नहीं कही जा रही, इसके पीछे कुछ और बात भी कही जा रही है। दूसरी तरफ जिन लोगों ने कहानी को गहराई से, अध्ययन करने के उद्देश्य से लिया, उन लोगों को गहरे अर्थ मिले। इस दृष्टि से—शायद मेरा सौभाग्य रहा कि मुझे दोनों तरह के पाठक मिलते रहे। एक—जो कहानी के बाहरी रूप तक सीमित सामान्य स्तर के थे, दूसरे—जो बौद्धिक थे और सतह को बेधना चाहते थे।

हां, यह बता पाना मेरे लिए मुश्किल है कि लिखते हुए दिमाग में कौन-से पाठक रहते हैं। शायद कोई विशेष पाठक नहीं रहता। सबका एक अमूर्त स्वरूप रहता है। हां, मैं अपने आपको यह श्रेय कतई नहीं देना चाहता कि मैंने कुछ सिर्फ कथा-प्रेमी पाठकों को गहन बातें समझाने की दिशा में दीक्षित किया। मीठी गोली से जैसे आप किसी की बीमारी ठीक करते हैं, वैसे ही शायद एक-एक रोचक कहानी सुनाकर मैं कुछ गहरी बातें उनके गले जरूर उतारना चाहता था। जिसे तुमने लोकप्रियता कहा या जिसे स्वीकृति मिलना कहते हैं, उसका कारण यह भी रहा हो कि कहानी के ऊपरी ढांचे को मैंने बहुत अधिक नहीं तोड़ा है, हालांकि आलोचकों ने मुझे अक्सर ही शिल्पाग्रही होने का नाम दिया है। मगर मैंने हमेशा ही शिल्प के प्रयोग अनुभव को अपनी व्याख्या देने के लिए किए हैं। जहां तक मैं सोचता हूं, मैंने कहानी के बाहरी स्वरूप को बहुत अधिक बिखरने नहीं दिया है। इससे 'आधुनिक' लोगों को कहानियां परिचित या परंपरागत लग सकती हैं या लगता हो कि साधारण ढंग से, कहानी कही जा रही है। मगर सच बात तो यह है कि मुझे सिर्फ किस्सागो होना पसंद नहीं रहा। मेरा छोटा-सा उपन्यास है **अनदेखे अनजान पुल**। उस कहानी का जब पहला हिस्सा मैंने लिखा, तो मैं खुद ही इतना ज्यादा बह गया कि लगा कि इसे ऐसे ही चलना चाहिए। क्योंकि मुझे निमी यानी कुरूप या अनाकर्षक लड़की की मानसिकता से इतना अधिक लगाव हो गया था कि मैं कहानी को और आगे बढ़ाना चाहता था, मगर फिर लगा कि बात जो मैं कहना चाहता हूं, वह तो रह ही जाएगी। तब मैंने उसे बीच में से तोड़ा। अपनी बात के लिए उसके अतीत में गया, फिर तीसरे हिस्से में वर्तमान में लाया। फिर भी शायद कहानी का रस उसमें है। लोगों ने उसे बहुत पढ़ा भी और सराहा भी। जिन लोगों ने उसके भीतर की तड़प को महसूस किया, उनकी तरफ से मुझे पत्र या अन्य प्रतिक्रियाएं मिलीं।

हम लोग अभी-अभी लेखक और मनुष्य की बात कर रहे थे। मैं तुम्हारे लेखक के बारे में जानना चाहता हूं। इन दिनों तुम कुछ खास नहीं लिख रहे, क्योंकि किन्हीं और कामों में व्यस्त हो गए हो। इन दिनों तुम्हारे लेखक की स्थिति क्या है? उसका क्या होगा?

जिस काम में मैं उलझा हूं, वह निश्चित रूप से मुझे लिखने का समय नहीं देता। लेकिन कोई शाम, कोई रात या कोई सुबह ऐसी नहीं होती, जब मैं लिखने की दुनिया में नहीं होता। मैं अपने भीतर इतना लिखता हूं—इतना लिखता हूं कि जो सिर्फ मुझे बाहर से देखते हैं, उनको अंदाजा भी नहीं होता। भीतर की दुनिया के साथ इतना मैं कभी नहीं रहा, जितना इन तीन-चार सालों में मुझे रहना पड़ा है। लिखने के लिए जिस तरह के एकांत की, अपने को काटकर महीना-दो महीना कहीं जाकर बैठने की

मेरी आदत बन चुकी है, वह वातावरण मुझे नहीं मिलता। मुझे, सचमुच, उन लोगों से बहुत ईर्ष्या है जो सुबह एक काम करते हैं, शाम को दूसरा। सुबह लेखन की समस्या से जुड़े होते हैं, शाम को दफ्तर की, या दूसरी समस्याओं से जा जुड़ते हैं। शायद मेरी बीस साल की आदत इस तरह की नहीं रही। अभी भी मैं प्रतीक्षा कर रहा हूं उस क्षण की जब पंद्रह-बीस दिन, महीना-भर किसी तरह से अपने को काटकर या अपने को समझा-कर कि मुझे कुछ नहीं करना है, मैं कहीं एकांतवास करूंगा और तब लिखने की बात सोचूंगा। अपने को समझाता हूं कि शायद इन दिनों लिखने के लिए भीतरी दबाव तैयार हो रहा है। जब लिखने बैठूंगा, तो इतनी दिक्कत नहीं होगी। सच पूछो तो, यह नए सिरे से लिखना नहीं होगा—बल्कि पुराने सिरे को ही पकड़ना होगा। मगर कहीं यह भी जानता हूं कि यह पुराना सूत्र ही नहीं होगा—बिल्कुल नए ढंग से प्रारंभ होगा—चार-पांच वर्ष की कैद से निकलकर जीवन की शुरुआत होगी। और इस बीच इतनी चीजों का जमा हो जाना, या हरेक समस्या मेरे लिए महत्वपूर्ण है। वैसे कभी भी कोई समस्या, कोई भी मुद्दा या बात मेरे लिए इतनी कटी-छंटी इकहरी नहीं होती। बातें इस तरह एक-दूसरे से उलझी और जुड़ी होती हैं, हर रेशा अपने साथ एक संदर्भ और धरातल या समस्या लाता है। इसलिए मुझे हमेशा डर रहता रहता है कि पता नहीं कोई कहानी या रचना कितनी बड़ी होने जा रही है। पहले जरूर मेरे मन में अपनी बात काफी साफ रहती थी—एक-एक वाक्य तक। अब ऐसा नहीं होता। अनुभव मेरे लिए एक अंधेरे जंगल जैसा होता है और उसमें सिर्फ टॉर्च लेकर गुजरना कुछ-कुछ मुझे लिखने जैसा लगता है। प्रकाश के बढ़ते हुए रश्मिपुंज में लक्ष्य के अलावा बहुत-सी चीजें, झाड़ियां, पत्ते, जीव-जंतु भी दीखते हैं।··· ··

मेरी कुछ कमजोरियां हैं और उन्हें मैं अपने लिए शक्ति बनाने का प्रयास करता हूं। मेरी याददाश्त बहुत कमजोर है। या तो बहुत पढ़ने से, बहुत तरह की और एक-दूसरे की विरोधी या खंडित जिंदगी देखने से ऐसा हुआ है कि चीजें मुझे याद नहीं रहतीं; चेहरे या घटनाओं के विवरण याद नहीं रहते। जो नाजुक या आत्मीय क्षण या महीन मुद्दे मैं, सचमुच, याद रखना चाहता हूं, वे भी धीरे-धीरे फिसल जाते हैं और इससे मन में एक आतंक का अहसास बना रहता है और यही मेरे भीतर के आत्मविश्वास को डिगा देता है कि इस चीज को मैं इस समय इस रूप में महसूस कर रहा हूं, मगर जब लिखूंगा, तो यह सब इस तरह याद नहीं आएगा। मुझे लगता है, इस भूलने के पीछे मनोवैज्ञानिक कारण हो सकते हैं : कि जिस काम, जिस परिवेश में मैं हूं, उसे कतई नापसंद करता हूं और यह नफरत चीजों को भूल जाने के रूप में व्यक्त होती है, यानी मानसिक रूप से उसे मैं खत्म कर डालना चाहता हूं—खास तौर से वह दिनचर्या, जिसमें मैं अपने को उलझा पाता हूं। चूंकि भौतिक रूप से मैं उसे नष्ट नहीं कर पाता, इसलिए मन में उन्हें नष्ट कर डालता हूं। हां, इस प्रक्रिया में बहुत-सी ऐसी चीजें जिन्हें मैं सुरक्षित रखना या बचाकर रखना चाहता हूं, वह सब भी नष्ट हो जाता है। मगर इसका एक अच्छा पहलू भी है— कम से कम मैं समझता हूं कि वह अच्छा पहलू है—कि मैं जब लिखने बैठता हूं, तो स्थिति की आवश्यकता के अनुसार मुझे हर चीज को अपने लिए पुनर्सृजित करना होता है। मुझे व्यक्तिगत रूप से लगता है कि मेरे जिन मित्रों की स्मरण-शक्ति, बारीक विवरणों के बारे में, अच्छी है, उनके मुकाबले मुझे रचनात्मक संतोष अधिक मिलता होगा, क्योंकि शायद वे लेखन को पुनर्स्मरण पर टिकाते हों, जबकि मुझे वास्तविक अर्थ में ही रचना पड़ता है। सोचे, जिए या दिखे हुए को सिर्फ याद करके लिखने की जगह शायद यह संतोष अधिक गहरा और स्थायी है।··· अब लेकिन अपने वास्तविक रूप में आने के लिए शायद तीन-चार सौ पन्ने लिखने पड़ेंगे। अभी तो मन में इतना धुंध है कि किसी एक बिंदु पर उंगली नहीं रख पाता। छोटी से छोटी बात बीहड़ और संश्लिष्ट लगती है, और चूंकि सारी स्थिति का कहीं कोई प्रारंभ और अंत नहीं दिखाई देता, इसलिए लगता है कि कहीं बीच से ही उसे ऐसी जगह फोकस करना है कि आसपास के संदर्भ उजागर हो जाएं। सही बात तो यह है कि लिखने में एक खास तरह की दिग्भ्रांति आ गई है, विश्वास की कमी नहीं। बहरहाल, यह भी लगता है कि इस दिग्भ्रांति को सिर्फ लिखने से ही दूर किया जा सकता है, क्योंकि काफी हद तक कन्फ्यूजन मानसिक या विचार का उतना नहीं, जितना कि रचनात्मक है। इसमें आज की संपूर्ण सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व्यक्तिगत स्थिति का ही बहुत बड़ा हाथ है, क्योंकि हमारे सामने कोई भी समस्या, इकलौती या इकहरी, घटित नहीं होती। उसके पीछे और आगे बहुत-सी शक्तियां कार्यरत होती हैं। बहुत छोटी-सी घटना के सूत्र कहीं बहुत गहरे होते हैं। लिखने के कन्फ्यूजन का कारण यह भी हो सकता है कि बहुत चीजें मैं जान गया हूं। शायद एक रचनात्मक लेखक को इतनी चीजें इतनी गहराई से नहीं जाननी चाहिए। इसके जवाब में लगता है कि तब क्या वह हमेशा ही एक भोला-सा 'भकुआया' रवैया बनाकर ही दुनिया को देखते रहने का नाटक करे, यानी एक बच्चे की तरह हर चीज को अपने लिए आविष्कृत करने और उस उल्लास से मुग्ध होने का ही अभिनय करता रहे? बाल-सुलभ अबोधता लेखन के लिए अधिक साधक है या सब कुछ 'देख-जान लेने' का संत-भाव! दुनिया के जिस वर्तमान में हम रहते हैं, उसमें सब कुछ जानते-बूझते, समझते-देखते, बच्चों जैसा भोला या 'भकुआया' भाव बनाए रखना मुझे

(शेष पृष्ठ 47 पर)

वासंती युग का अग्रदूत : पतझर के युग का आदि प्रवर्तक

इलाचंद्र जोशी

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' एक धूमकेतु की तरह हिंदी-साहित्य-गगन में आए और एक स्थिर नक्षत्र की तरह जम गए। धूमकेतु केवल अपने पुच्छ की विशालता के कारण ही महान नहीं है, अपने आकार की विचित्रता के कारण ही वंदनीय नहीं है, वरन अपनी गति की दिशा और काल-ज्ञान में भी यह मौलिक है। सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाने वाले सभी ग्रहों की कक्षाएं गोल और समान केंद्र वाली होती हैं। पर धूमकेतु की कक्षा बहुत लंबी और अडाकार होती है। वह भी सूर्य की ही परिक्रमा करता है, पर अपने विचित्र नियम के अनुसार। वह दूसरे ग्रहों की तरह सूर्य को केंद्र मानकर परिक्रमा नहीं करता। वह अपने लिए एक निराला केंद्र बनाता है और सूर्य को अपनी कक्षा के अंतिम छोर पर छूकर निकल जाता है। अपनी परिक्रमा में उसे तनिक भी जल्दी नहीं रहती। एक बार की परिक्रमा में उसे कई दशक और, कभी-कभी शतक तक लग जाते हैं। अपने मौलिक और एकाकी पथ में, दीर्घकाल तक भ्रमण करते रहने में, उसे आनंद मिलता है। पर उसके इस अनियम में भी नियम और क्रम हैं। उसकी परिक्रमा की अवधि निश्चित है और वह एक निश्चित काल के अंतर से पृथ्वी के वासियों को अपने दर्शन कराता रहता है।

'निराला' के साहित्य और जीवन की सारी विचित्रताएं पूर्णतः मौलिक और स्वच्छंद होने पर भी सब मिलकर वे एक निश्चित नियम के भीतर गुंथी हैं। रूढ़िगत बंधनों में जकड़े हुए हिंदी काव्य के जो स्वर मंद पड़े हुए थे, उन्हें बंधन-मुक्त करके उन्होंने उनमें एक नई झंकार भर दी :

नूपुर के स्वर मंद रहे
जब न चरण स्वच्छंद रहे !

\+ + +

बहुविध प्राणों को झंकृत कर
बजे छंद जो बंद रहे !

'निराला' ने बंद पड़े हुए छंदों के कलिदलों को खोलकर हिंदी कविता को छंद-मुक्त कर दिया और रीतियों के गढ़े में, अपनी ही संकीर्ण सीमा में बंधे हुए, काव्य-जल को सौ-सौ धाराओं में बहते चले जाने के लिए मुक्त छोड़ दिया। इस मुक्त प्लावन से रूढ़िवादी साहित्यकार घबरा उठे कि कहीं उसमें उनके जमे-जमाए पुराने घरौंदे बह न जाएं, पर ज्यों-ज्यों वह मुक्त धारा अविराम गति से बहती चली गई, त्यों-त्यों उसने अपने चारों ओर की बांझ धरती को उर्वर करना आरंभ कर दिया। और उसमें नए-नए रूपों, नए-नए रसों और नई-नई गंधों की अपूर्व छटा और बहार दिखाई देने लगी !

'निराला' ने प्रारंभ ही से हिंदी-साहित्य-जगत में मौलिक प्रयोग किए। उन्होंने केवल कविता को ही छंदों की बेड़ियों से नहीं छुड़ाया, वरन गद्य के क्षेत्र में भी शब्दों के भीतर बंदी पड़े हुए अनेक नए-नए अर्थों के दरवाजे और खिड़कियां खोल दीं। उनके आलोचनात्मक निबंधों में पुराने शब्दों की नई झंकार सुनाई देती है और **बिल्लेसुर बकरिहा** जैसे कथात्मक शब्द-चित्रों में नए यथार्थ की भाषा व्यंग्यों की सौ सौ किलकारियों से मुखर हो उठी है। **कुकुरमुत्ता** जैसे नए प्रयोगमूलक काव्यों की भाषा छायावादी युग की हाथीदांत की मीनार से सहज ही नीचे उतरकर साधारण बोलचाल की भाषा के भीतर छिपे नए-नए चमत्कारों से जन-मन को और संपूर्ण साहित्य-जगत को भी परिचित कराती रही है।

छायावादी युग के सुसंस्कृत साहित्य-भंडार को और अधिक समृद्ध करते हुए भी उनके प्रयोगों की चिर-नूतन गति कभी रुकी नहीं। 'जूही की कली' द्वारा छायावादी चेतना को उन्होंने एक बिल्कुल ही नई दिशा प्रदान की और उसमें नए प्राण भरे। बादलों में नए ही रागों का आविष्कार करके उन्हें अलग-अलग तालों में बांधा और भाव, भाषा और छंदों के नवीनतम प्रयोगों द्वारा एक पूर्णतः मौलिक चेतना के प्रकाश में काव्य-श्री का नया शृंगार किया :

ऐ निर्बंध !
अंधतम-अगम-अनर्गल बादल !
ऐ स्वच्छंद !
मंद चंचल समीर रथ पर उच्छृंखल
ऐ उद्दाम !

अपार कामनाओं के प्राण !
बाधा-रहित विराट !
ऐ विप्लव के प्लावन !
सावन और गगन के
ऐ सम्राट् !
ऐ अटूट पर छूट टूट पड़ने वाले उन्माद !
छिन्न-भिन्न कर पत्र-पुष्प,
पादप-वन-उपवन,
वज्र-घोष से ऐ प्रचंड !
आतंक जमाने वाले !
कंपित जंगम-नीड़-विहंगम,
ऐ न व्यथा पाने वाले !
भय के मायामय आंगन पर
गरजो विप्लव के नव जलधर !

इस दुर्बल-प्राण देश की आत्मा में नव-जागरण की अदमनीय शक्ति भरने की लालसा इस महाकवि के मानस में प्रारंभ ही से हलचल मचाती रही। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर उन्होंने अनेकों ओजस्वी कविताएं लिखीं। 'जागो फिर एक बार' इसी कोटि की कविताओं में से एक है :

जागो फिर एक बार !
सिंही की गोद से छीनता है शिशु
कौन ?
मौन-सी क्या रहती वह रहते प्राण ?
रे अजान !
एक मेष-माता ही
रहती है निर्निमेष—
दुर्बल वह—
छिनती संतान जब
जन्म पर अपने अभिशप्त
तप्त आंसू बहाती है !
किंतु क्या ?
योग्य जन जीता है !
पश्चिम की उक्ति नहीं,
गीता है, गीता है !
स्मरण करो बार-बार—
जागो फिर एक बार !

\+ + +

तुम हो महान
है नश्वर यह दीन मान,
कायरता, कामपरता !
ब्रह्म हो तुम,
पदरज-भर भी है नहीं
पूरा यह विश्व-भार—
जागो फिर एक बार !!

एक ओर वीरों की वह ऊर्जस्वित वाणी, जो निपट जड़ और मृत प्राणों को भी पूर्ण चैतन्य के अमृत-संचार से नव-जीवन की उमड़ती हुई तरंगों पर नचाने में समर्थ है, और दूसरी ओर कोमल, कमनीय और स्नेह-मृदुल भावों का सरस-स्निग्ध प्रवाह—ये दो परस्पर-विरोधी भाव-स्रोत निराला की अंत: चेतना के दो विभिन्न उद्गमों से फूटते हुए दो समानांतर रेखाओं में बराबर हिंदी काव्य-जगत को रस-प्लावित करते रहे।

'जागो फिर एक बार' कविता के दूसरे रूप के कोमल-कांत संगीत की भाव-विह्वल झंकार भी देखिए :

जागो फिर एक बार !
प्यारे, जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें,
अरुण-पंख तरुण-किरण
खड़ी खोल रही द्वार—
जागो फिर एक बार !

आंखें अलियों-सी
किस मधु की गलियों में फंसी,
बंदकर पांखें
पी रही हैं मधु-मौन
अथवा सोई कमल-कोरकों में—
बंद हो रहा गुंजार—
जागो फिर एक बार !

परस्पर-विरोधी लगने वाले ये दोनों भाव वास्तव में एक-दूसरे के पूरक हैं। 'निराला' की शिव-सौंदर्य-समन्वित चेतना बराबर काव्य-रथ के इन्हीं दो पहियों को आधार बनाती चली है।

एक ओर 'राम की शक्ति-पूजा' की यह गरजती हुई गुरु-गंभीर भाषा :—

है अमा-निशा;
उगलता गगन घन-अंधकार;
खो रहा दिशा का ज्ञान;
स्तब्ध है पवन-चार;
अप्रतिहत गरज रहा पीछे;
अंबुधि विशाल;
भूधर ज्यों ध्यान-मग्न;
केवल जलती मशाल !

और दूसरी ओर जलाशय के किनारे की कुहरी के वर्णन में सरल बोलचाल की यह शब्दावली :

जलाशय के किनारे कुहरी थी,
हरे नीले पत्तों का घेरा था,
पानी पर आम की डाल आई हुई,
गहरे अंधेरे का डेरा था !

इस प्रकार, भाव और भाषा के संबंध में नित्य नए प्रयोग 'निराला' अंत तक करते रहे। स्वर्ण-क्षितिज को छूने वाली छायावादी कल्पना की उड़ान से लेकर आज की नवीनतम चेतना की प्रयोगमूलक अभिव्यक्ति हम 'निराला' के काव्य में पाते हैं। वह केवल काव्य के बसंती युग के ही अग्रदूत नहीं थे, आज के पतझर के युग के भी आदि-प्रवर्तक वही रहे हैं। अनियम में क्रम और विरोधी तत्वों में सुंदर सामंजस्य के इस महाकवि ने हिंदी साहित्य को अनेक रूपों से संवारा है।

'निराला' की विराट बहुमुखी और चिर-उर्वरा प्रतिभा के यथार्थ स्वरूप को हिंदी जगत ठीक से पकड़ नहीं पाया, इसलिए उनके साहित्य और जीवन की अनेक कटु आलोचनाएं उनके जीवन-काल में होती रहीं। उनकी खिन्नता और मानसिक अवसाद का यह एक प्रमुख कारण था।

देश में निर्मित प्रक्षेपणास्त्र से

भारतीय वैज्ञानिकों की उपलब्धि

प्रदीप चतुर्वेदी

संसद के बजट सत्र में रक्षा मंत्रालय की मांगों पर बहस के दौरान जब विरोधी पक्ष के एक सदस्य ने यह कहा कि सेना को सक्षम बनाए रखने के लिए अनुसंधान एवं बिकास पर अधिक जोर दिया जाना चाहिए, अन्यथा भारत विश्व के अन्य देशों से पिछड़ जाएगा, तो प्रधान मंत्री, श्रीमती इंदिरा गांधी ने सदन को यह सुखद सूचना दी : आज सुबह आठ बजकर दो मिनट और पैंतालीस सैकिंड पर भारत ने देश में निर्मित रोहिणी उपग्रह को प्रक्षेपण यान (सेटेलाइट लांचिंग व्हिकल-3) की मदद से अंतरिक्ष में पहुंचा दिया है और यह उपग्रह अपनी पूर्व निर्धारित कक्षा में प्रति नब्बे मिनट की गति से पृथ्वी की परिक्रमा कर रहा है।

प्रधान मंत्री के इस वक्तव्य का संसद-सदस्यों ने हर्षोल्लास से स्वागत किया। यह भारत के लिए एक ऐतिहासिक महत्व की घटना थी।

पिछले वर्ष अंतरिक्ष में भारत ने दो बड़े प्रयोग किए थे, पर किन्हीं कारणों से दोनों ही विफल रहे। पहला था भास्कर, जो भारत का दूसरा उपग्रह था। यह सोवियत रूस की मदद से उनके ही कास्मोड्रोन से छोड़ा गया था। दूसरा था उपग्रह प्रक्षेपण-यान का प्रायोगिक नमूना। भास्कर में लगे कैमरों ने काम करना बंद कर दिया था (और सिर्फ तीन माइक्रोवेव रेडियो मीटर ही चालू थे)। फिर जब प्रायोगिक उपग्रह प्रक्षेपण-यान बंगाल की खाड़ी में जा गिरा, तो ऐसा सोचा जाने लगा था कि भारतीय अंतरिक्ष विज्ञान भी जैसे समुद्र-तल में जा समाया हो। पश्चिमी देशों की पत्र-पत्रिकाओं ने भारत की इस असफलता पर कसकर टिप्पणियां कीं। वैज्ञानिकों का मनोबल अत्यंत क्षीण हो गया और उनमें उत्साह नहीं रह गया। पर इस वर्ष जब भास्कर पर लगे कैमरों ने फिर से काम करना शुरू कर दिया, तो भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संस्थान के वैज्ञानिकों को जैसे पुनः 'दृष्टि' मिल गई।

हमारे देश में छोटे से छोटा कार्य

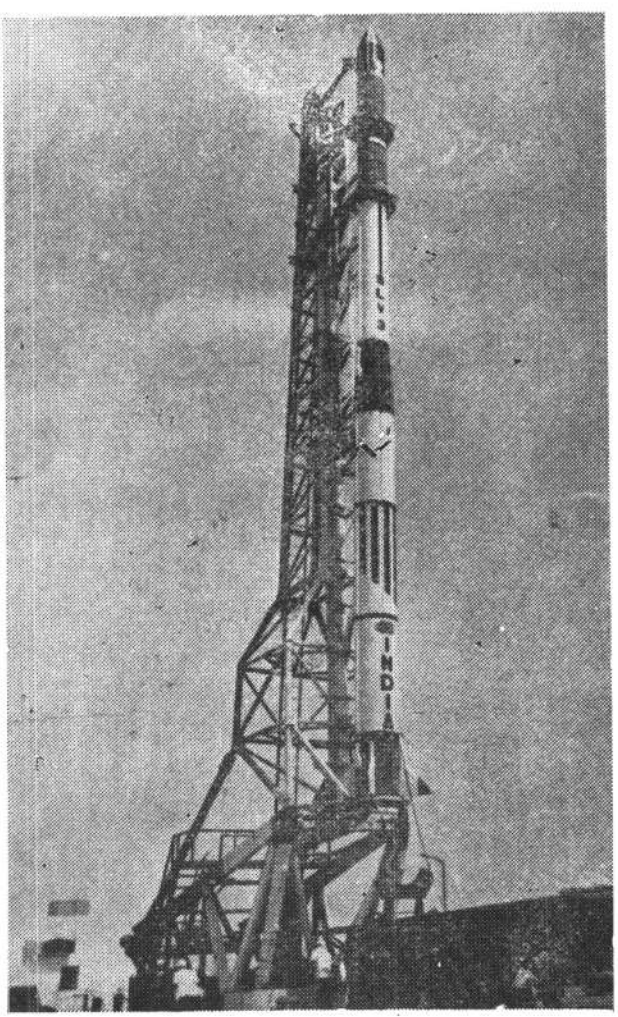

उपग्रह 'रोहिणी' कक्षा में स्थापित

प्रारंभ होने के पहले ही आशाएं इतनी ऊंची लगा ली जाती हैं कि उसके बाद उस प्रयोग की सफलता या असफलता का मापदंड सिर्फ अंतिम उपलब्धि ही रह जाता है। प्रायोगिक उपग्रह प्रक्षेपण-यान इसलिए असफल हुआ, क्योंकि उसमें दूसरे खंड की मोटर ने काम करना बंद कर दिया था। लेकिन, उस असफलता में भी एक बड़ी सफलता थी बारूद की क्षमता, जिससे कि प्रक्षेपण-यान धरती से ऊपर उठ सका। इस सफलता की ओर किसी अंतरिक्ष वैज्ञानिक का ध्यान नहीं गया। यदि असफलता हुई भी, तो उसमें इतना ज्यादा हतोत्साह होने की आवश्यकता नहीं थी। विश्व में अत्याधुनिक और सबसे अधिक शक्तिशाली प्रक्षेपणास्त्र ट्राइडेंट का विकास अमेरिका ने किया और प्रथम सत्रह परीक्षणों में से तीन असफल थे। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि सत्रहवां प्रक्षेपणास्त्र भी असफल रहा था और यह लगभग उसी समय हुआ था जबकि भारतीय प्रायोगिक उपग्रह प्रक्षेपण-यान असफल हुआ और वह अपने गंतव्य की ओर जाने की बजाय अन्यत्र जा गिरा।

ऐसी स्थिति में यदि इस बार भारत को अपने प्रक्षेपण-यान से उपग्रह को कक्षा में भेजने में सफलता न मिलती, तो सोचा जा सकता है कि अंतरिक्ष वैज्ञानिकों का मनोबल कितना क्षीण हो जाता! इस सफलता के बाद अब भारतीय वैज्ञानिकों में विश्वास की एक नई लहर जागी है।

'रोहिणी'

पिछली 18 जुलाई को सुबह साढ़े छह बजे ही हजारों अंतरिक्ष वैज्ञानिक श्रीहरिकोटा केंद्र के आसपास और अंडमान-निकोबार द्वीप-समूह पर आधारित अंतरिक्ष केंद्र तथा अहमदाबाद-स्थित केंद्र पर इस प्रतीक्षा में खड़े थे कि कब एस० एल० वी०-3 से उपग्रह प्रक्षेपण-यान छोड़ा जाता है। अंतरिक्ष अनुसंधान संस्थान ने पिछले वर्ष की विफलता से जैसे त्रस्त होकर पत्रकारों तक को प्रक्षेपण-स्थल के आसपास नहीं आने दिया। यह इस बात का द्योतक है अंतरिक्ष विभाग के वैज्ञानिकों को भी अपने ऊपर पूरा विश्वास नहीं था।

यहां तक कि आकाशवाणी से भी तब तक समाचार नहीं दिया गया जब तक कि प्रधानमंत्री ने संसद में घोषणा नहीं कर दी।

जैसे ही अंतरिक्ष प्रक्षेपण-यान ने जमीन से उठना शुरू किया, अठारह किलोमीटर ऊंचाई पर पहुंचकर इसकी गति 1.3 किलोमीटर प्रति सैकिंड हो गई और इसमें कुल 52 सैकिंड लगे। इस अवस्था में पहले चरण की बारूद समाप्त हो चुकी थी और दूसरे चरण की बारूद जलनी शुरू हुई, जिसके समाप्त होने पर 112 सैकिंड में अंतरिक्ष यान 72 किलोमीटर की ऊंचाई पर पहुंच चुका था और 2.7 किलोमीटर प्रति सैकिंड की गति से बढ़ रहा था। इसके पश्चात तीसरे चरण की बारूद 188 सैकिंड में जलकर समाप्त हुई, जिस समय कि अंतरिक्ष-यान 140 किलोमीटर की ऊंचाई पर था और 4.6 किलोमीटर प्रति सैकिंड की गति से बढ़ रहा था। 430 सैकिंड समाप्त होने पर अंतरिक्ष प्रक्षेपण-यान उपग्रह 'रोहिणी' को (देखें मुखपृष्ठ का चित्र) 285 किलोमीटर तक की ऊंचाई तक ले गया और 7.79 किलोमीटर प्रति सैकिंड की गति या 28,000 किलोमीटर प्रति घंटे की गति से उसने उपग्रह-यान को अंतरिक्ष में छोड़ा। दूसरे और तीसरे चरण की बारूद जैसे-जैसे खत्म होती गई, बारूद के खोल अपने आप नीचे गिरते गए। तीसरे चरण की बारूद के खोल के गिरने के बाद उपग्रह के ऊपर की 'हीट्स शील्ड' गिर गई तथा चौथे चरण में उपग्रह को घुमाव देने के लिए जो राकेट स्थापित थे, उन्होंने भी काम करना शुरू कर दिया। इसलिए चौथे चरण की बारूद समाप्त होने पर जब उपग्रह अंतरिक्ष में छोड़ा गया, तो वह अपनी धुरी पर भी घूम रहा था।

यह गतिशीलता भी अत्यंत आवश्यक है।

इस प्रकार, दुनिया के उन छः देशों में भारत की भी गिनती होने लगी है जिन्होंने अपने ही प्रक्षेपण-यान से अंतरिक्ष में उपग्रह भेजे हैं। भारत से पहले संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत रूस, जापान, चीन तथा फ्रांस यह करिश्मा कर चुके हैं।

भारत के अंतरिक्ष विज्ञान विकास तथा अन्य देशों के विज्ञान विकास में एक महत्वपूर्ण अंतर है। विदेशों में प्रक्षेपणास्त्र फेंकने के लिए राकेट या प्रक्षेपण-यान का विकास हुआ और फिर उन्हीं राकेटों का उपयोग अंतरिक्ष में उपग्रह भेजने के लिए किया गया। भारत ने विशुद्ध तौर पर अंतरिक्ष में उपग्रह भेजन के लिए ही प्रक्षेपण-यान के राकेट का विकास किया। यह इस बात का द्योतक है कि भारत शांति के लिए विज्ञान का उपयोग करने की नीति पर चल रहा है। इसके विपरीत बड़े-बड़े देश बात तो निःशस्त्रीकरण की करते हैं, पर सारा पैसा घातक शस्त्रों के विकास में लगा रहे हैं।

अंतरिक्ष विज्ञान : कार्यक्रम

1957 में सोवियत रूस द्वारा स्पुतनिक उपग्रह छोड़े जाने के बाद पांच वर्षों में ही भारत में अंतरिक्ष अनुसंधान कार्यक्रम का शुभारंभ हुआ। उस समय यह कार्यक्रम विक्रम साराभाई के संरक्षण में परमाणु ऊर्जा विभाग के अंतर्गत चालू किया गया था। 1962 में भारतीय राष्ट्रीय अंतरिक्ष अनुसंधान परिषद बनाई गई। 1969 में इसका पुनर्गठन किया गया और इसे परमाणु ऊर्जा विभाग के अंतर्गत अंतरिक्ष अनुसंधान परिषद ('इसरो') का नाम दिया गया। 1972 में अंतरिक्ष आयोग तथा अंतरिक्ष विभाग स्थापित किए गए। भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान परिषद को अंतरिक्ष विभाग के अन्तर्गत अनुसंधान तथा विकास की जिम्मेदारी सौंपी गई।

अंतरिक्ष आयोग पर अंतरिक्ष विभाग की नीति निर्धारित करने का दायित्व है। आयोग का अध्यक्ष विभाग का सचिव होने के साथ 'इसरो' का भी अध्यक्ष होता है।

अंतरिक्ष विभाग के जिम्मे अंतरिक्ष विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी है। पिछले लगभग 19 वर्षों में जो कार्य किए गए हैं, उनमें ये उल्लेखनीय हैं—(क) एक मीटर व्यास तक के राकेट का निर्माण, जिसमें देश में बनी हुई ठोस बारूद का इस्तेमाल होता है; (ख) दूर-संचार वैज्ञानिक अनुसंधान तथा भू-सर्वेक्षण के लिए उपग्रह का निर्माण; (ग) पृथ्वी पर केंद्र की स्थापना और उसके लिए टेलीमीटरी तथा ट्रेकिंग उपकरणों का निर्माण; और (घ) नियंत्रण तथा राकेटों के लिए दिशा-निर्देश उपकरणों का निर्माण। इन सब कार्यों के लिए त्रिवेंद्रम में विक्रम साराभाई अंतरिक्ष अनुसंधान केंद्र, अहमदाबाद में स्पेस एप्लीकेशन सेंटर; बंगलौर में भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान परिषद उपग्रह केंद्र तथा श्री हरिकोटा (आंध्र प्रदेश) में शार केंद्र कार्यालय स्थापित किए गए। इसके अलावा अहमदाबाद की भौतिकी अनुसंधान प्रयोगशाला भी अंतरिक्ष विभाग के अंतर्गत कार्य कर रही है। विक्रम साराभाई अंतरिक्ष अनुसंधान केंद्र की थुंबा में पांच इकाइयां हैं : (1) राकेट प्रक्षेपण केंद्र; (2) राकेट निर्माण सुविधा केंद्र; (3) राकेट बारूद संयंत्र; (4) राकेट ईंधन संयंत्र; तथा (5) अंतरिक्ष विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी केंद्र।

श्रीहरिकोटा द्वीप में 12,000 हैक्टर भूमि राकेट प्रक्षेपण केंद्र के लिए तैयार की गई है। अंतरिक्ष विज्ञान के क्षेत्र में भारत ने 1971-72 में 11.1 करोड़ रुपए का व्यय किया, जो बढ़कर 30 करोड़ रुपए से ऊपर पहुंच चुका है। इस संस्थान के अंतर्गत अब दस हजार से अधिक व्यक्ति कार्य कर रहे हैं।

21 नवंबर, 1963 को त्रिवेंद्रम के पास तटवर्तीय केंद्र थुंबा से पहली बार 'नाइक अपाचे' राकेट छोड़ा गया जो अमेरिका में बना था। 1968 में संयुक्त रष्ट्र ने इस केंद्र को अंतर्राष्ट्रीय संस्थान के रूप में मान्यता दी। अब तक इस केंद्र से एक हजार से अधिक राकेट छोड़े जा चुके हैं। इस केंद्र से ऊपरी आयनमंडल के अध्ययन के लिए ही राकेट छोड़े जाते हैं।

20 नवंबर, 1967 को सर्वप्रथम भारतीय राकेट रोहिणी-75 छोड़ा गया था। यह तो सिर्फ एक खिलौना मात्र ही था, क्योंकि इसका व्यास कुल 75 किलोमीटर था। धीरे-धीरे बड़े व्यास के राकेट भी बनाए जाने लगे और अब 1,000 किलोमीटर का राकेट भी बन बन चुका है। भारत ने फ्रांस से सहयोग करके 'सेंटोर' राकेट का निर्माण आरंभ किया। प्रथम भारतीय निर्मित 'सेंटोर' राकेट 1974 में श्रीहरिकोटा से छोड़ा गया। अब तक थुंबा केंद्र में राकेट की दस विभिन्न प्रणालियां तैयार की जा चुकी हैं।

भारतीय राकेटों में ठोस ईंधन का उपयोग किया जाता है। तरल ईंधन वाले राकेट में अधिक शक्ति होती है और इससे बड़े उपग्रह कक्षा में छोड़े जा सकते हैं। भारत में तरल ईंधन की मोटर वाले पहले राकेट का परीक्षण 15 मई, 1973 को किया गया। थुंबा में अब तीन टन शक्ति वाले तरल पदार्थ ईंधन का परीक्षण किया जा चुका है।

उपग्रह के क्षेत्र में पदार्पण

भारतीय वैज्ञानिकों ने 19 अप्रैल, 1975 को देसी पुर्जों से निर्मित कृत्रिम उपग्रह 'आर्यभट्ट' अंतरिक्ष में भेजा। भारत का यह पहला कृत्रिम उपग्रह अल्युमिनियम की विशेष धातु से बना है। इसका भार 860 किलोग्राम है। यह 96.7 मिनट में पृथ्वी की परिक्रमा कर लेता है। इसमें सौर सैल लगे हुए हैं। इन माध्यम से 46 वोल्ट विद्युत पैदा होती है। इसमें निकिल कैडमियम बैटरी भी लगी हैं।

आर्यभट्ट : उपग्रह छोड़ने के पांचवें दिन ही तीन वैज्ञानिक प्रयोगों को बंद कर देना पड़ा, क्योंकि उसके चौदह रैग्युलेटरों में से एक में खराबी आ गई थी। पर इस अल्पकाल में मिली जानकारी का भी बहुत बड़ा वैज्ञानिक महत्व है। आर्यभट्ट अभी भी अंतरिक्ष में घूम रहा है और हमारे ज्ञान में वृद्धि कर रहा है। इस उपग्रह के माध्यम से आदमी की आवाज और इलैक्ट्रो-कार्डियोग्राम के संकेत एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रसारित करने के सफल प्रयोग किए गए हैं। इसके अलावा, मौसम के आंकड़े भी श्रीहरिकोटा केंद्र से आर्यभट्ट की मार्फत बंगलौर पहुंचाए गए।

भास्कर : आर्यभट्ट की सफलता के बाद रूसी कास्मोड्रोम से दूसरा भू-प्रक्षेपण उपग्रह 'भास्कर' छोड़ा गया। इसका भार लगभग 425 किलोग्राम है।

इस उपग्रह को छोड़ने का लक्ष्य आकाश से धरती और वायुमंडल के रहस्यों का पता लगाना है। इसमें दो दूरदर्शन कैमरे लगे हैं। इनसे 325 किलोमीटर लंबे और 325 किलोमीटर चौड़े भूखंड की तस्वीरें खींची जा सकती हैं। इस उपग्रह का नियंत्रण श्रीहरिकोटा केंद्र से किया गया। इसके संकेत त्रिवेंद्रम और अहमदाबाद के भू-केंद्रों पर ग्रहण किए जा रहे हैं। इसमें लगे तीन माइक्रोवेव रेडियो मीटर समुद्र की सतह पर के तापमान और वायु की गति की सही-सही खबर भेजकर मौसम के बारे में आंकड़े प्रस्तुत करेंगे। उपग्रह के उभर जाने के बाद इसके दोनों कैमरों ने काम करना बंद कर दिया था, पर अब ये फिर काम करने लगे हैं।

अगले कार्यक्रम में सबसे पहले 'एपल' (एरियाने पैसेंजर पेलौड एक्स-पैरीमेंट) उपग्रह छोड़ा जाएगा। यह दूर-संचार उपग्रह की श्रेणी में आता है। इसको यूरोपियन अंतरिक्ष एजेंसी द्वारा एरियाने राकेट की मदद से संभवतः 1981 के अंत तक अंतरिक्ष में भेजा जाएगा। इस उपग्रह का वजन 616 किलोग्राम है।

भारतीय दूर-संचार उपग्रह 'इनसेंट' का उपयोग अंतर्देशीय दूर-संचार एवं दूरदर्शन कार्यक्रमों के प्रसारण तथा मौसम संबंधी ज्ञान के लिए किया जाएगा। इस पर 173 करोड़ रुपए खर्च होने का प्रावधान है। इस कार्यक्रम को जल्दी क्रियान्वित करने का प्रयास किया जा रहा है क्योंकि बाद में भूमध्य रेखा के ऊपर कृत्रिम उपग्रहों की भीड़ हो जाएगी।

कृत्रिम उपग्रह 'इनसेंट' से दूरस्थ गांवों में दूरदर्शन रिसीवर केंद्रों पर कार्यक्रम पहुंच सकेंगे। इस कार्यक्रम के अंतर्गत पहले दो उपग्रह विदेश से खरीदे जाएंगे और विदेशों से ही कक्षा में भेजे जाएंगे। भारत ने अमेरिका के 'स्पेस शटल' में भी स्थान आरक्षित करा लिया है।

ग्राहकों के लिए आवश्यक सूचना

'आजकल' के दाम में फरवरी 1974 से कोई परिवर्तन नहीं किया गया। हम करना भी नहीं चाहते थे, क्योंकि हमारा सर्वोपरि उद्देश्य आर्थिक लाभ कमाना नहीं, बल्कि जनसाधारण तक सस्ते दामों पर श्रेष्ठ एवं स्वस्थ सामग्री पहुंचाना रहा है।

मई 1945 में प्रकाशित अपने प्रवेशांक से ही 'आजकल' इस ध्येय की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहा है।

पिछले कुछ वर्षों में कागज, ब्लाकों, छपाई, पैकिंग सामग्री आदि में पर्याप्त वृद्धि हुई है। यही नहीं, पत्रिका को और अधिक उपयोगी और पठनीय बनाने के लिए हमने लेखकों की पारिश्रमिक राशि में भी पर्याप्त वृद्धि की है।

इन सब बातों से 'आजकल' के उत्पादन-व्यय में अत्यधिक वृद्धि हुई है, जिसके कारण हम पत्रिका के दाम में थोड़ी-सी वृद्धि करने को विवश हुए हैं। अब नवंबर 1981 से 'आजकल' की एक प्रति का दाम 75 पैसे की जगह एक रुपया हो जाएगा।

इससे वार्षिक चंदे में भी वृद्धि होगी : एक वर्ष के लिए 10 रु०; दो वर्ष के लिए 18 रु० तथा तीन वर्ष के लिए 25 रु०।

विशेष सुविधा

आप हमारे नियमित पाठक हैं, इसलिए 31 अक्तूबर तक हम पुरानी दरों पर ही आपका चंदा स्वीकार करेंगे।

यदि आप 'आजकल' के नियमित ग्राहक बनना चाहते हैं, तो कृपया 31 अक्तूबर, 1980 से पूर्व अपना चंदा हमारे पास भेजें। 31 अक्तूबर, 1980 तक चंदे की वही पुरानी दरें रहेंगी : एक वर्ष के लिए 8 रु०, दो वर्ष के लिए : 14 रु०, तथा तीन वर्ष के लिए : 20 रु०। अध्यापकों तथा विद्यार्थियों को 10 प्रतिशत की छूट भी पूर्ववत दी जाएगी।

इसके अतिरिक्त, 'आजकल' के नियमित ग्राहकों को प्रकाशन विभाग की 5 रु० या इससे अधिक मूल्य की पुस्तकें खरीदने पर 20 प्रतिशत की छूट भी दी जाती है।

व्यापार व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग
पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001

सृजन और अनुवाद

आज जब कि दूरियां लगातार सिमट रही हैं, सांस्कृतिक चेष्टाओं की राष्ट्रीय अस्मिता के साथ उसमें से संचरित होती एक सार्वजनीन और सार्वभौमिक मानवता भी अपने रूपाकार ग्रहण कर रही है, एक अंतर्निर्भर सांस्कृतिक संवाद की जरूरत किसी से छिपी नहीं है। इस संवाद में सृजनात्मक प्रतिभाओं के समानांतर अनुवाद की रचनात्मकता की अपनी भूमिका से इंकार नहीं किया जा सकता। इस मानवीय और सार्वजनीन आध्यात्मिक संवाद में अनुवाद एक ऐसे सांस्कृतिक दूत की मानिंद है जो पारस्परिक परिचय और आत्मीयता के जरिए एक सार्वजनीन रचनात्मकता की जमीन तैयार करता है।

धनंजय वर्मा

अनुवाद के बारे में अक्सर यह कहा जाता है कि वह उस औरत की मानिंद है जो यदि सुंदर है, तो विश्वसनीय नहीं और यदि विश्वसनीय है, तो सुंदर नहीं···।

क्या यह एक सार्वजनीन सत्य है? क्या सुंदर और विश्वसनीय औरत या अनुवाद दुनिया में इतना ही नामुमकिन है? क्या विश्वसनीयता और सौंदर्य के भी अपने-अपने नजरिए और पैमाने नहीं होते?

अनुवाद के प्रसंग में औरत की बात आ ही गई है, तो काउंटेस रूना की पहेली भी बेसाख्ता कौंध जाती है। औरत जो कहती है, उसका वह मंशा नहीं होता और जो उसका मंशा होता है, उसे वह कहती नहीं, लेकिन जब भी औरत कुछ कहती है, उसका कुछ मंशा जरूर होता है। अनुवाद भी या तो बहुत मुखर होता है—कभी-कभी तो इतना कि रचना का अभिप्राय वह नहीं होता, कि रचना कभी अपना अभिप्राय इतना मुखर बनाकर नहीं कहती और सार्थक अनुवाद जब कभी कुछ कहता है, तो उसका अभिप्राय रचना का ही अभिप्राय होता है।

भाषा से रिश्तों का सरगम औरत से आदमी के रिश्तों के सरगम की ही तरह बहु-आयामी और बहुध्वन्यात्मक होता है। आप किसी भाषा में से ही पैदा होते हैं, वही आपको रचती है। फिर भाषा आपकी सहचरी होकर जीवन-पर्यंत आपके साथ रहती है—उस सह-धर्मिणी की तरह जिसके बिना आपके जीवन का 'ऋत्' पूरा नहीं होता। और भाषा ही वह आत्मजा भी होती है जो आपकी "आत्मसंभवा अभिव्यक्ति" को सार्थकता देती है। वह ऐसी सहोदरा भी है जो जातीय संस्कृति के गर्भ से निकल-कर एक ही आनुवंशिकता को संचरित करती है। यों भाषा के साथ कुछ लोगों के रिश्ते उस औरत की तरह भी होते हैं जिसके साथ 'फ्लर्ट' करना तो वे चाहते हैं, लेकिन जिसे वे अपना नहीं सकते और ऐसे लोग एक साथ कई भाषाओं के साथ 'फ्लर्ट' करने के इतने आदी हो जाते हैं कि अपनी भाषा से भी 'फ्लर्ट' कर पाते हैं; उसे अपना नहीं पाते।

सृजनात्मक प्रतिभा के लिए अनुवाद दोयम दर्जे का काम है। चुनांचे वह दोयम क्या, तीसरे दर्जे के लोगों पर ही छोड़ दिया गया है। ऐसे लोग लगभग हमेशा ही भाषा के साथ 'फ्लर्ट' करते हैं। सच तो यह है कि अनुवाद मौलिक रचना से अधिक समावेशी सर्जनात्मक प्रतिभा का काम है। उसमें दोनों भाषाओं के रचनात्मक सरगम के साथ उस माध्यम और विधा की रचना-प्रक्रिया में गहरी पैठ जरूरी होती है। रचना के ही समानांतर कलात्मक ऊर्जा और सृजन-शील कल्पना के बिना अनुवाद कोरा भाषिक रूपांतरण हो जाता है। अनुवाद का मतलब महज भाषा के कपड़े बदलना नहीं है। भाषा कभी वेशभूषा नहीं होती, वह आपकी त्वचा और अस्थि-मज्जा ही नहीं, प्राण-शक्ति तक होती है। यदि भाषा महज ऊपरी वेश-विन्यास होती, तो अनुवाद का काम कंप्यूटर कर सकते थे। दरअसल अनुवाद भी एक रचनात्मक चुनौती है कि रचनाकार के मानसिक और सृजनात्मक सरगम में आप कितने गहरे स्थित हो सके हैं। उस स्थिति को आपने कितना आत्मसात किया है। जैसे रचना-प्रक्रिया में रचनाकार का व्यक्तित्व एक माध्यम होता है, जिसमें से होकर मानव-अनुभूतियां अभिव्यक्ति के लयात्मक पुनःउत्सर्जन में रूपांतरित होती हैं, उसी तरह अनुवाद भी एक माध्यम होता है जिसमें से होकर एक भाषिक संरचना अपने सारे उत्तप्त मानव अनुभवों और विचारों की तात्कालिकता को दूसरी भाषा में पुनरुज्जीवित करती है।

आज जब कि दूरियां लगातार सिमट रही हैं, सांस्कृतिक चेष्टाओं की राष्ट्रीय अस्मिता के साथ उसमें से संचरित होती एक सार्वजनीन और सार्वभौमिक मानवता भी अपने रूपाकार ग्रहण कर रही है, एक अंतर्निर्भर सांस्कृतिक संवाद की जरूरत किसी से छिपी नहीं है। इस संवाद में सृजनात्मक प्रतिभाओं के समानांतर अनुवाद की रचनात्मकता की अपनी भूमिका से इंकार नहीं किया जा सकता। इस मानवीय और सार्वजनीन आध्यात्मिक संवाद में अनुवाद एक ऐसे सांस्कृतिक दूत की मानिंद है जो पारस्परिक परिचय और आत्मीयता के जरिए एक सार्वजनीन रचनात्मकता की जमीन तैयार करता है।

गेटे ने कहा है : It is, and remains, after all, one of the most important and worthy occupations, in general world intercourse. The Koran says: 'God has given each people a prophet in its own tongue.' Thus every translator is a prophet among his people.

एक रचना जब दूसरी भाषा में रूपांतरित होती है, तो वह अपने पूरे सामाजिक और सांस्कृतिक 'इथास' को लेकर आती है, उतनी ही आंगिक और अविभाज्य पूर्णता में जितनी कि अनुभव या विचार के किसी भाषा में रूपांतरति होते वक्त होती है। किसी भी अनुभव या विचार का उसकी भाषा से अलग अस्तित्व ही क्या और कहां होता है? उसके अस्तित्व में आने की शर्त ही भाषा है। इसलिए जब हम अनुवाद के प्रसंग में भाषा की आंतरिक पहचान की बात करते हैं, तो हमारा मतलब केवल अभिव्यंजना के रूप और भाषा की कुशलताओं से नहीं होता। दरअसल, इसमें वह संपूर्ण रचना प्रक्रिया अंतर्भूत है जो एक पूरी सांस्कृतिक प्रकृति और जीवन-पद्धति का सार अपने में से संचरित करती है।

अनुवाद की यह निर्विवाद शर्त है कि उसमें कुछ रचना के जीवित और संवेदित बिंब अपनी पूरी तात्कालिकता में संप्रेषित हों। अपनी सारी प्राण-शक्ति और रक्त की जीवित ऊर्जा सहित उसकी अंतर्निहित प्रतीक व्यवस्था और फैंटेसी उद्दीप्त हो उठे। इसके लिए जरूरी है कि दोनों भाषाओं के रचनात्मक अनुभव से अनुवाद समृद्ध हो, इसके लिए सृजनात्मक प्रतिभा और समावेशी कल्पनाशीलता भी जरूरी है। गौर कीजिए, तो अधिकाधिक सुंदर और विश्वसनीय अनुवाद उन्हीं रचनाकारों ने किए हैं जिनके रचना-व्यक्तित्व, किसी हद तक, समानांतर रहे हैं। मसलन, **'निराला'** ने **रवींद्र** और **विवेकानंद** की रचनाओं के जो अनुवाद किए हैं, उनमें शाब्दिक अनुगूंज और लयात्मक मीड़ या गमक ही नहीं, अनुभव का औदात्य और गरिमा भी सुरक्षित रह सकी है। इसकी वजह भी यही है कि 'निराला' ने दोनों भाषाओं की रचनात्मक प्रकृति को अंतरंगता से आत्मसात किया है।

होता यह है कि कोई भी सार्थक रचना अपने अनुभव की अभिव्यक्ति के दौरान सिर्फ प्राप्त और प्रदत्त भाषा से काम नहीं चलाती, वह अपने लिए एक नई भाषा भी ईजाद करती है। उसमें नई शब्द-भंगिमा ही नहीं होती, प्राप्त शब्दों के नए संयोजन से उत्पन्न नई झंकृतियां भी होती हैं। रोजमर्रा की जिंदगी की जाने कितनी अभिव्यक्तियां और मुहावरे, लोक-व्यवहार में आने वाले शब्दों की नई-नई रूपच्छटाएं उसमें दिपदिपा उठती हैं। **मयाकोवस्की** ने स्वीकार किया था कि "क्रांति करोड़ों लोगों की आम बातचीत के अनपढ़ शब्दों को सड़क पर ले आई—जयपूर्ण गान के बजाय चीत्कार, लोरी के बजाय नगाड़े की गरज।"

जाहिर है कि खुद मयाकोवस्की की कविताओं का अनुवाद करते वक्त "भाषा की इस नई शक्ति" को बुद्धिजीवियों की किसी नीरस, ठंडी और बासी भाषा में रूपांतरित नहीं किया जा सकता। अनुवाद जिस भाषा से किया जा रहा है, उसकी लिखी और बोली जाने वाली शैलियों के साथ उसके जीवंत और सांस्कृतिक स्रोतों से भी अंतरंग तादात्म्य जरूरी है।

हालांकि पारिभाषिक शब्दावली के माध्यम से किया गया वैज्ञानिक या मानविकी के क्षेत्रों का अनुवाद-कार्य, फिलहाल, हमारी चर्चा का विषय नहीं है, लेकिन प्रसंगवश यह कहना भी विषयांतर नहीं होगा कि वहां भी अनुवाद का मसला महज एक भाषा के शब्दों की जगह दूसरी भाषा के शब्दों को रख देना-भर नहीं है। कई बार और अक्सर ही ऐसा करना कितना बनावटी और हास्यास्पद हो जाता है, उसकी मिसाल **अनुवाद ब्यूरो** और **अकादमियों** का काम है। वे न केवल मूल भाषा की प्रकृति, शब्द-संदर्भ, लोक-व्यवहार, साहित्य और संस्कृति से अपरिचित होते हैं, बल्कि अपनी भाषा की प्रकृति में भी बेगाने होते हैं। वे भूल जाते हैं कि भाषा की रचना अंधेरे बंद कमरों में बैठकर नहीं, गली-कूचों और खेत-खलिहानों में होती है। एक भाषा के शब्दों के पर्यायवाची और पर्यायध्वनि शब्द किसी भी दूसरी भाषा में नहीं होते—कि भाषा और शब्दों के पीछे पूरा एक जीवित संसार, जीवन-दर्शन, मूल्य-बोध और सांस्कृतिक अस्मिता होती है। भाषा सिर्फ अभिव्यक्ति का नहीं, अनुभव का भी माध्यम है। उसमें देश और काल की अमिट छाप होती है। जो एक भाषा में अनुभव और अभिव्यक्त किया गया है, वही दूसरी भाषा में न केवल नामुमकिन है, बल्कि उसकी प्रकृति के खिलाफ भी है। इसीलिए कोई भी अनुवाद सार्थक तभी होता है, जब वह "पुनर्सृजन" होता है—मूल के बीच का गर्भाधान और फिर उसका स्वतंत्र आंगिक विकास सहज और परिपक्व प्रसव की मानिंद।

इन शर्तों पर हमारे कितने सम-

(शेष पृष्ठ 37 पर)

एक पुरानी दीवार

रवींद्रनाथ त्यागी

मैं सिर झुकाए चला जा रहा था। हाथ में छड़ी थी और होठों पर 'बच्चन' की **मिलनयामिनी** का कोई गीत।

अचानक मुझे रुकना पड़ा। ऐसा लगा जैसे कि मेरी प्रगति में कोई ठोस बाधा आ गई हो। मैंने अपने दोनों नेत्रों को ऊपर की दिशा में संचालित किया और देखा कि वाकई मैं बिना दिशा बदले और आगे नहीं बढ़ सकता था। काफी ठोस किस्म की बाधा सामने आ गई थी।

बात यह थी कि ठीक मेरे सामने पुराने किले की काफी पुरानी दीवार खड़ी थी और स्थिति यह थी कि यदि मैं एक कदम भी और आगे बढ़ता, तो मेरा यह एक अदद सिर उससे टकरा सकता था। इस निकट संपर्क से दीवार को क्षति होती या नहीं होती, यह तो कोई पुरातत्व का ज्ञाता ही बता सकता था, मगर इतना साफ जाहिर था कि मेरे सिर को क्षति पहुंचने की जो संभावना थी, वह काफी उज्ज्वल थी। दीवार ठीक उस मुद्रा में खड़ी थी जिसमें दार्शनिक खड़े होते हैं—एकदम विरक्त, उदासीन और उदात्त। चूंकि उस दीवार के वहां से हटने की निकट भविष्य में कोई आशा दिखाई नहीं पड़ती थी, मैंने चारों ओर देखा और फिर अपने विशाल व्यक्तित्व को ध्यान में रखते हुए अपने को एक काफी बड़े और मजबूत शिलाखंड पर स्थापित कर दिया।

अपना शिलान्यास होते ही मैं—क्या छड़ी और क्या 'बच्चन'—दोनों को एकदम भूल गया और उस दीवार को देखने लगा। यह शायद वही दीवार थी जिस पर शहंशाह बाबर अपनी बगल में दो इंसानों को दबाकर दौड़ा करता था, ताकि उन तीनों व्यक्तियों की सेहत एक साथ ठीक रह सके। बाबर का यह व्यायाम इतना मौलिक और सामूहिक ढंग का था कि उसके सामने पतंजलि के सारे योग और आसन फीके प्रतीत होते थे। बाबर वाकई सर्वे संतु निरामयाः वाले आर्ष सिद्धांत में विश्वास रखता था।

बाबर के बाद मुझे ओलिवर गोल्डस्मिथ की याद सताने लगी जिसने कहा था कि ये जितने भी किले और गढ़ हैं, इनकी चिनाई चूने या मसाले से नहीं, बल्कि इंसान के खून से की गई है। मेरे खयाल से यही वह रहस्य है जिसके कारण ये पुरानी इमारतें अभी भी काफी शान और मजबूती के साथ खड़ी हैं। अगर ये इमारतें भी आजकल की तरह सीमेंट से बनवाई जातीं, तो वही हाल होता जो आज के सरकारी भवनों का होता है। नई इमारतों की स्थिति यह है कि निर्माण बाद में खत्म होता है और मरम्मत पहले शुरू हो जाती है। कुछ विभाग तो इतने दूरदर्शी हैं कि मरम्मत का ठेका पहले देते हैं और निर्माण का बाद में। हमारे इंजीनियर लोग बहुत सिद्धहस्त दार्शनिक हैं। जिस अद्वैतवाद को सारा सांख्य और वेदांत भी पूरी तरह साबित नहीं कर पाया, वह इन्होंने रेत और सीमेंट को एक बनाकर सिद्ध कर दिया। और तारीफ की बात यह कि यह सारा काम खुले-आम किया गया। निर्माण विभाग को इसी कारण 'सार्वजनिक निर्माण विभाग' कहकर पुकारा गया जो एकदम तर्कसंगत व उचित रहा।

मैं उस पुरानी दीवार को देखता रहा और नाना प्रकार की बातें सोचता रहा। मुझे सहसा यह अहसास हुआ—एक पुरानी दीवार के उतने ही उपयोग हैं जितने कि किसी नई लड़की के। प्रेमियों को खुली आजादी है कि वे चाहें, तो उसकी आड़ में संयोग-शृंगार का आनंद लूट लें और चाहें, तो वियोग शृंगार की याद को ताजा रखने के लिए इस दीवार से कूदकर आत्महत्या कर लें। अलबत्ता, ऊपर से कूदते समय इतना जरूर देख लें कि नीचे कोई और युगल तो नहीं बैठा है, नहीं तो स्थिति यह होगी कि आत्महत्या करने वाला तो शायद बच जाएगा, पर वे दो प्रेमी बिना बात पंचत्व को प्राप्त हो जाएंगे। समाधि लगानी हो, कुंडलिनी उठानी हो, राजयोग करना हो—दीवार आपकी हर सेवा के लिए प्रस्तुत है। इतना एकांत इस राजधानी में और कहां मिलेगा? पुराने जमाने में हमारे जो ऋषि लोग होते थे, वे तपस्या करने हिमालय जाया करते थे, ताकि गर्मी न लगे, पर आजादी के बाद कुछ ऐसा दौर आया कि सारे योगी और ब्रह्मचारी एकदम महानगरों में आ गए। योगाश्रमों की शानदार इमारत, चारों ओर वातानुकूलित वातावरण, सुन्दर और युवा मुखड़ों से घिरे ब्रह्मचारी जी और श्री ओरोविंदो पर प्रवचन। कुछ योगी तो इतने पहुंचे हुए निकले कि शृंगार से लेकर वीभत्स तक जितने भी रस हैं, सबका मजा एक साथ ही दे गए। भारतीय संस्कृति और दर्शन का भी वाकई जवाब नहीं।

दर्शन से छुट्टी पाकर मेरी पैनी निगाह इतिहास की दिशा में मुड़ी। इस किले के पास बैठकर मुझे उन किलों की भी याद आने लगी जो मैंने अपने क्षणभंगुर जीवन में अब तक देखे थे। झांसी के किले की उस दीवार की याद आई जहां से कभी रानी लक्ष्मीबाई बच्चे को

गोद में लिये हुए घोड़े पर सवार होकर कूदी थीं। वह दीवार इतनी ऊंची है कि घोड़ा क्या, मैं तो गधे पर भी चढ़कर वहां से नहीं कूद सकता। पुराने दिनों के लोग ऋण लेते थे, घृत पीते थे, पवित्र विचार रखते थे और नियमित जीवन बिताते थे। इसी कारण तो वे इतने बहादुर होते थे कि अपनी हिफाजत के लिए इतने मजबूत किलों का निर्माण करते थे। लालकिले की वह दीवार भी याद आई जिसके झरोखों में से कभी सुंदर युवतियां यमुना की लहरें देखा करती थीं और साथ ही साथ वह दीवार भी याद आई जहां से पंद्रह अगस्त के शुभ अवसर पर एक बार मैं इतनी तबियत के साथ फिसला था कि यदि रास्ते में सेना के एक मेजर जनरल ने बाधा न डाली होती, तो पता नहीं कहां पहुंच गया होता !

आगरा, इलाहाबाद, चुनार, गोलकुंडा, दौलताबाद, फतेहपुर सीकरी और आमेर के किलों की याद भी बराबर आती रही। इन सारे किलों में जो खास चीज मुझे पसंद आई, वह थी चोर दरवाजा। यह दरवाजा चोर दरवाजा इसलिए नहीं कहलाता था कि इसके सहारे चोर अंदर आते थे। दरअसल चोरों को तो इस दरवाजे में कोई दिलचस्पी कभी भी नहीं रहती थी। यह दरवाजा चोर दरवाजा इस कारण कहलाता था, क्योंकि खूबसूरत लड़कियां और तकड़े युवक, जो चोरी-चोरी किले के भीतर प्रवेश करते थे, वे इसी दरवाजे से करते थे। वीरगाथाकाल में रीतिकाल का जो सुख प्राप्त होता था, उसमें चोर दरवाजे का कड़ा हाथ था। ताः चंद्रविबाननाः।

जितने भी ऐतिहासिक स्थान मैंने देखे, उनमें यह देखकर बड़ा ही संतोष हुआ कि देखने वालों ने भी अपनी वंशावली उन पर काफी मेहनत से खुरचकर अंकित की। जो कोई भी आया, वह वहां कुछ लिखकर ही गया, ताकि सनद रहे और वक्त जरूरत काम आए। सम्राट अशोक की एक ऐसी लाट भी मैंने देखी है जिस पर अशोक ही नहीं, वरन समुद्रगुप्त, जहांगीर और जनरल नील ने भी अपने शिलालेख विभिन्न भाषाओं में अंकित किए हैं और सबसे नीचे किन्हीं साधूराम जी का शिलालेख भी अंकित है, जो वहां दी गई सूचना के अनुसार जिला बांदा के कोई हलवाई थे। उन्होंने यह शिलालेख देवनागरी लिपि में सन उन्नीस सौ छत्तीस ईसवी में खुद अपने ही कर कमलों से अंकित किया था। कुछ पुरानी इमारतों पर मैंने वात्स्यायन का पूरा कामसूत्र इतनी साफ और सरल भाषा में लिखा हुआ देखा कि आम जनता उससे काफी फायदा उठा रही होगी। मेरा अपना ज्ञान ही वहां जाकर काफी बढ़ गया। किलों और पुरानी दीवार को देखते-देखते सहसा याद आया कि सुमित्रानंदन पंत के पैतृक मकान में—जिसमें बहत्तर कमरे थे—आजकल एक बूचड़खाना खुला है। ऐसी कोमलकांत पदावली के कवि के जन्मस्थान का यह हाल !

चाणक्य ने ठीक ही कहा था कि समय बड़ा बलवान है। कालाय तस्मै नमः। काल से बड़ी चीज शायद एक ही है और वह है हिंदी का आलोचक जिसने पंत और 'निराला' को भी उचित प्रतिष्ठा देने में काफी लज्जा दिखाई। सारे गुप्त रोगों का इलाज है, मगर हिंदी के आलोचक का कोई इलाज नहीं। उनके साथ तो प्राकृतिक चिकित्सा भी काम नहीं करती।

मैं उठा। उस पुरातन और ऐतिहासिक दीवार के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने हेतु मैंने पहले तो उसे प्रणाम किया और फिर चारों ओर निगाह फेंकी कि जो मैं करने जा रहा हूं कहीं कोई देख न ले। सूखी श्रद्धांजलि से क्या फायदा ? पुरानी इमारतों के प्रति सम्मान प्रकट करने का यह वह सनातन ढंग है जिसे इस देश की कोटि-कोटि जनता कभी नहीं भूल पाई।

और शायद कभी भूलेगी भी नहीं।

सृजन और अनुवाद

(पृष्ठ 35 का शेषांश)

कालीन अनुवाद खरे उतरते हैं ? चूंकि अक्सर ही यह काम दोयम दर्जे के पेशेवर लोगों ने किया है, भाषा और रचना से उनका रिश्ता रचनात्मक नहीं रह पाया। उनका रवैया भाषा के प्रति एक उपभोक्ता का रहा है। जिन चंद रचनाकारों ने इस दिशा में कुछ किया है, उसमें भी उनकी रचनात्मक निष्ठा और ईमानदारी का सबूत नहीं मिलता। वे तो महज स्वाद बदलने के लिए उधर चले गए हैं। उन्होंने अक्सर ही अनुवाद से अनुवाद करके काम चलाया है। प्रमाण है कामू के तीनों उपन्यासों का हिंदी अनुवाद और इसी तरह दूसरी भाषाओं की अनेक रचनाओं के अनुवाद, जो लगभग हर महीने पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे मिलते हैं। वे भ्रम तो यह देते हैं कि सीधे मूल से किए हैं, जबकि उन्होंने भी उसी तथाकथित अंतर्राष्ट्रीय खिड़की (अंग्रेजी) का इस्तेमाल किया है जो उन भाषाओं के रचनाकाश को उसकी व्यापकता और गहराई में न तो समो सकी है, और न आत्मसात कर पाई है। नतीजा हुआ है कि हम असल में दो सीढ़ी नीचे की नकल से ही काम चला रहे हैं। यह न केवल मूल रचना के साथ बलात्कार है, बल्कि अपने मुहावरे और विन्यास में अपनी भाषा से भी 'फ्लर्ट' करना है। वे न तो विश्वसनीय हैं और न सुंदरता की शर्तों को पूरा करते हैं। अनुवाद को अपनी सार्थकता के लिए इस मुश्किल शर्त पर खतरा उतरना ही पड़ेगा।

नई किताबें

वैयक्तिकता बनाम सामाजिकता

अ० द० पांडेय

तथाकथित 'नव लेखन' आंदोलन के बाद हिंदी कहानी का सिलसिला एक अंधड़ का-सा सिलसिला रहा—अव्यवस्थित, अमर्यादित और दिग्भ्रमित भी। कहानी विधा को समर्पित अनेक पत्रिकाओं ने कहानियों की बाढ़ को खपा तो लिया, पर कहानी का एक सुदृढ़ अनुशासन बन नहीं पाया। कोई भी संपादक हो सकता था और कोई भी कहानीकार; दोनों के तुरंत अर्जनीय लक्ष्य भी अलग-अलग। औचित्य-स्थापन के संदर्भ में कहा गया कि क्षण-प्रतिक्षण को जीने की अनुभूति की शब्द व शैलीगत अभिव्यंजना ही कहानी है या इसी प्रकार कोई और बहाना बनाया गया। परंतु कहानी की स्वस्थ परंपरा को आगे बढ़ाने वाली अनेक कहानियां जो इस बाढ़ से इधर-उधर बिखर गई थीं, उनके चुनाव व एकत्रीकरण का कार्य अभी तक शुरू भी नहीं हुआ है। यह नैतिक दायित्व कहानीकार का भी था, परंतु घोर आत्ममुग्धता की भावना से ग्रस्त औसत कहानीकार स्व-प्रतिष्ठा में ही व्यस्त है।

रमेशचंद्र शाह ऐसे ही औसत कहानीकारों में आते हैं। पहले तो सीमित पूंजी वाली पत्रिकाओं ने उन्हें प्रोत्साहित किया, फिर बड़ी जी पूंकी और अग्रसर प्रकाशन-व्यवस्था ने उनकी सातवें दशक में छपी पंद्रह कहानियों को पुस्तकाकार प्रदान करके उन्हें 'स्तरीय' सकलन का प्रणेता बना ही दिया। इसमें संदेह नहीं कि संकलन की शुरुआत एक सशक्त कहानी 'रामरिख बाबू' से हुई है, जो आज के संदर्भ की सामाजिक एवं आर्थिक संबंधों की स्वस्थ लेखकीय प्रतिक्रिया को उजागर करने में सफल सिद्ध हुई है। रामरिख बाबू तथा सब्जी मार्केट का वह सारा परिवेश एक ऐसे औसत व्यक्ति का परिवेश है जो बहु आयामी शोषण की चक्की में लगातार पिसता चला आ रहा है। इसका जिम्मेदार कौन है, कहानी में स्पष्ट है। इसी टक्कर की एक और जोरदार कहानी है' ट्रेंड-अप्रेंटिस'। अप्रेंटिस टैक्नीशियन सुकेन ने वर्ग चेतना को जो सुदृढ़ आधार प्रदान किया है, वह बेजोड़ है। सुकेन अपने वर्ग का एकता को आइडियोलॉजी, उपदेश अथवा कोरी भाषणबाजी से नहीं, अपितु ऐसी मानवोचित सहज प्रतिक्रियाओं से स्थापित करना चाहता है, जिनका प्रभाव अमिट है। शेष तेरह कहानियां एक तरफ और ये दो एक तरफ—ये दो ही भारी पड़ेंगी।

'ट्रेंड अप्रेंटिस' 1982 में प्रकाशित हुई। शेष सभी सातवें दशक की हैं परंतु इस एक दशक के अंतराल से कोई अंतर नहीं पड़ा। 'ट्रेंड अप्रेंटिस' आज भी सशक्त व तरोताजा है, एकदम प्रासंगिक और जब तक हमारे सामाजिक-आर्थिक मूल्य नहीं बदलते, इस कहानी का महत्व नहीं घटेगा। लेखक अपनी ईमानदारी का यह सिलसिला अन्य कहानियों में कायम नहीं रख सका। उनमें भटकाव अधिक है, जमाव या कांसिस्टेंसी बहुत कम। कहीं संकीर्ण संदर्भों के दायरे हैं और अन्यत्र क्षण-क्षण जीने की अनुभूति के पीछे घोर वैयक्तिकता ही लक्षित हुई है। आत्मकथ्य तथा पारिवारिक मामले की कहानी का रूप धारण कर गए हैं ('अंधड़' और 'पक्ष')। मजे की बात यह है कि ये दोनों कहानियां 1975 में प्रकाशित हुई थीं। विशुद्ध प्रजातांत्रिक और बौद्धिक नेतृत्व प्रदान करने की अपेक्षा लेखक ने इनके माध्यम से वासना-विलास ही की प्रेरणा दी है। ऐसा दमित और संयमित ढंग से हुआ है, क्योंकि लेखक को समाज के प्रति नैतिक उत्तरदायित्व भी तो निभाना है। वह अपनी प्रेयसी के साथ तभी स्वच्छंद विहार करना चाहता है जब वह सठिया जाए, बुढ़िया हो जाए। बब्बू एक अबोध बालक है (कहानी) उसमें सहसा परिपक्वता आ गई। स्वभाव तो उसका बालोचित है, पर अंदाज अनुभव सिक्त। वह एक कपोल-कल्पित कहानी के माध्यम से अपने 'पापा' को संतानोत्पत्ति के लिए प्रेरित करता है, क्योंकि वह अकेला है और उसे चाहिए एक भाई या बहन, ताकि वह साथ-साथ खेल सके। उधर पत्नी भी सहवास सुख से वंचित है। पति से प्रोत्साहन न मिलने के कारण वह पक्षियों से बात करती है। ऐसी कहानी भी संकलन में स्थान पा गई। पति महाशय पत्नी के प्रति दायित्व से बड़ा समझते हैं लेखन के प्रति दायित्व को। पत्नी अपनी आर्थिक स्वतंत्रता के लिए प्रयत्नशील है (क्योंकि वह एम० ए० कर रही है, इसी उद्देश्य के लिए) परंतु वह दांपत्य जीवन की संश्लिष्टताओं के प्रति भी सजग है।

जंगल में आग : रमेशचंद्र शाह; पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली; पंद्रह रुपये।

"मतवादी की घेराबंदी के माध्यम से रचना का विवेचन उचित नहीं"

–शैलेश मटियानी

प्रियवर, आपका 27/7 का पत्र तथा प्रतिक्रिया की अपेक्षा में संलग्न समीक्षा। प्रतिक्रिया चूंकि शाह के कहानी-संग्रह पर नहीं, समीक्षा पर अपेक्षित है, अस्तु, इसी सिलसिले में कुल पंक्तियां लिखकर, भेज रहा हूं। अपनी बात कहने का अवसर आपने मुझे दिया, आभारी हूं।

शाह के कहानी-संग्रह के "फ्लैप" पर मेरा जो कथन उद्धृत होकर छपा है, वह उनकी **वापसी** कहानी के साथ एक संपादकीय नोट के रूप में 1968 के **विकल्प** के कथा विशेषांक में छपा था, उनके कहानीकार व्यक्तित्व या कि किसी कहानी-संग्रह पर लेख या टिप्पणी के रूप में नहीं। संपादकीय टीप में "वैचारिक मुक्ति" नहीं, "वैचारिक भुक्ति" शब्द का प्रयोग है। यों "वैचारिक मुक्ति" का अर्थ विचारशून्यता भी, शायद, ठीक नहीं।

मैं बहुत संक्षेप में अपनी बात कहता किंतु चूंकि यह समीक्षा आलोचना-दृष्टि के स्तर पर सैद्धांतिकता का तेवर लिये है, इसलिए पड़ताल में जाना

प्रश्न है कि इस प्रकार के घोर वैयक्तिक मामलों के पीछे क्या किसी प्रकार की सामाजिक प्रासंगिकता भी है? शाह के वर्ग के कहानीकारों को **घोर व्यक्तिकता में ही सामाजिकता** दिखाई देती होगी। मान लिया जाए, यौन संबंधों का एक सामाजिक पहलू भी है; क्या अन्य तमाम समस्याओं का समाधान हम पा चुके हैं? फिर कहानी को इन सब बातों के लिए फुर्सत नहीं है। वह होती है एक मार्मिक पक्ष का उद्घाटन करने के लिए और संवेदना का विस्तार करने के लिए। ऊब और एकांतिकता के क्षणों में व्यक्त आलाप ('अनगढ़') में यह शक्ति नहीं हो सकती।

'कवच' में भ्रष्टाचार पर जनकर लिखा गया है, परंतु नौकरशाही को, जो अनेक भ्रष्ट तौर-तरीके अपनाती है, उन शोषक शक्तियों से उद्भुत दिखाया जाना था जो भ्रष्टाचार, घूसखोरी, मंहगाई मुद्रास्फीति आदि के आदि स्रोत हैं। 'जंगल में आग' में भी कार्य-कारण शृंखला विच्छिन्न है। जंगल और आग विशेष स्थितियों के प्रतीक हैं, परंतु एक ही व्यक्ति के एकालाप से उन स्थितियों की प्रभविष्णुता निष्प्रभ हो गई है। संकलन का शीर्षक तो जम गया, पर कहानी नहीं जमी।

बकौल शैलेश मटियानी (फ्लैप पर) "आधुनिक कहानी को आत्मविश्लेषण की उन संश्लिष्टताओं से गुजरना भी है जो मानवीय चरित्र की उन लगभग अपरिभाषेय जटिलताओं को प्रत्यक्ष करती हैं, जो रचनाकार को अपनी नितांत आधुनिकता में भी पौराणिकता की समानांतरता में झलका देती हैं।... रमेशचंद्र शाह की रचनाओं में अर्थवत्ता भरने वाली यही संवेदनात्मक और वैचारिक मुक्ति अक्सर दिख जाती है"। इसका अर्थ क्या यह लगाया जाए कि व्यक्ति की जो दशा आज है, वह उसी के कारण है, किसी बाहरी पैशाचिक शक्ति का उसकी दुर्दशा में कोई हाथ नहीं? ये अपरिभाषेय जटिलताएं, ये आत्मविलेषण की संश्लिष्टताएं क्या होती हैं? कैसे पैदा होती हैं? क्या समाज की दमनकारी शक्तियों से अलग-थलग रहकर ये व्यक्ति के अंदर स्वतः उत्पन्न हो जाती हैं? शैलेश मटियानी जबर्दस्ती एक होनहार कहानीकार को वैचारिक मुक्ति का कामी बना देना चाहते हैं, चाहे उसकी इच्छा हो या न हो। वैचारिक मुक्ति की दशा में जो साहित्य लिखा जाएगा, वह अन्याय और उत्पीड़न के खिलाफ जूझने की प्रेरणा कैसे दे सकता है? इसके विपरीत शाह ने विचारों को वैज्ञानिक आधार और विश्वसनीयता प्रदान करने की कोशिश की है ('रामरिख बाबू' 'ट्रेंड अप्रेंटिस,' कस्बे में कविता' और 'अयोध्याकांड')। फिर संवेदनात्मकता और वैचारिक मुक्ति साथ-साथ नहीं रह सकते। जहां सही एवं स्वस्थ संवेदनात्मकता होगी, वहां अस्तित्ववाद तथा फ्रायडीय ग्रंथि से उद्भूत घोर वैयक्तिकता या आत्महीनता समाप्त हो जाएगी। वैचारिक मुक्ति ही आत्मनिष्ठता की पोषक है। अतः संवेदनात्मकता का संबंध जुड़ा विचारों की वस्तुपरकता और वैज्ञानिकता से और वैचारिक मुक्ति जुड़ी आत्मलीनता से।

रमेशचंद्र शाह में सफल कहानीकार बनने की प्रतिभा विद्यमान है। शीघ्र प्रतिष्ठित होने की जल्दबाजी में उन्होंने उसका धैर्यपूर्वक सदुपयोग नहीं किया। क्षण-प्रतिक्षण जीने की अनुभूति के दो अर्थ होते हैं: एक, आत्मकेंद्रित होकर जीना; दूसरे समाज में व्याप्त संघर्षों, समस्याओं तथा राजनीतिक-आर्थिक विद्रूपताओं को आत्मसात करके जीना। आज से पांच सौ वर्ष पूर्व पैदा हुए कवि तुलसीदास की कविता भी स्वानुभूति-निरूपिणी होते हुए भी वाह्यार्थ-निरूपिणी बन गई थी। प्रस्तुत संकलन में यह लक्षण मौजूद है, पर उसका सही विकास नहीं किया गया। रमेशचंद्र शाह से ऊंची अपेक्षाएं, आशाएं हैं। अपने आगामी कहानी संकलन को वह उससे वंचित नहीं रखेंगे।

(अगले अंक में रमेशचंद्र शाह का 'आत्मकथ्य')

जरूरी लग रहा है। आलोचना के पास यदि सिर्फ पाठानुभव हो और दृष्टि साफ न हो, तो विवेचन और भाषा के बीच तादात्म्य नहीं रह जाता। भाषा और निष्कर्षों के सतहीपन और अंतर्विरोध से यह समीक्षा आद्यंत ग्रस्त है। आश्चर्य है कि मार्क्सवादी दृष्टि की दावेदारी बरतते हुए समीक्षक ने **'प्रभविष्णुता निष्प्रभ हो गई'** और **'कार्यकारण शृंखला विच्छिन्न है'**, जैसी छायावादी शब्दावली का प्रयोग किया है। उसका यह कथन भी कि **कहानी की स्वस्थ परंपरा को आगे बढ़ाने वाली कहानियां इस बाढ़ से इधर-उधर बिखर गई थीं, उनके चुनाव और एकीकरण कार्य शुरू नहीं हुआ है**––कथा-साहित्य की परख की जगह, सा० नि० वि० की भ्रष्ट कार्यप्रणाली पर किसी संवाददाता के 'कमेंट' का अहसास कराता है और सहज ही यह जिज्ञासा होती है कि बाढ़ में बहने से बचकर, इधर-उधर बिखरी पड़ी रह गई इन ऐतिहासिक महत्व की कहानियों के चुनाव और एकीकरण का कार्य खुद समीक्षक ने क्या निबटा लिया (याकि अभी 'शुरू' ही नहीं किया ?

शाह को 'औसत कहानीकार' और उनकी कहानियों की स्तरीयता को ही संदेहास्पद मानने के बाद, 'ट्रेंड अप्रेंटिस' कहानी को **वर्ग चेतना को सुदृढ़ आधार प्रदान करने में बेजोड़** बताते हुए समीक्षक यह भूल ही गया कि **'औसत'** और **'बेजोड़'** दोनों साथ-साथ संभव नहीं। शायद समीक्षक यह सारतत्व ही यहां निरूपित करना चाहता है कि **वर्गचेतना को सुदृढ़ आधार दे देने पर औसत कहानीकार भी बेजोड़ कहानी लिख सकता है।**

आगे चलकर शाह की पारिवारिक और व्यक्तिगत किस्म की (असामाजिक?) कहानियों का जिस ढंग से समीक्षक ने विवेचन किया है, उससे यह साफ लगता है कि या तो वह मनुष्य के जीवन में वर्ग-चेतना के अतिरिक्त किसी भी प्रकार की चेतना, जटिलता अथवा अनुभूतियों के अस्तित्व की ही गुंजाइश नहीं देखता और या रचना में इस सबको अवांछित मानता है। इस इकहरी मतवादी समीक्षा दृष्टि के चलते हिंदी में रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान जैसे मूर्द्धन्य आलोचक साहित्य की मुख्यधारा से कटकर अलग पड़ गए। पांडेय जी ने तो अभी 'बिसमिल्ला' ही की होगी।

वर्ग-चेतना और रचना को पर्यायवाची मानना मतवादी कटमुल्लेपन का आखेट हो गया। महामना मार्क्स ने शोषित-उत्पीड़ित मानव-समाज की आर्थिक मुक्ति का सपना ही नहीं देखा, इसे साकार कर सकने के व्यावहारिक दर्शन की भी स्थापना की, किंतु मार्क्सवाद की सिर्फ किताबी और सतही समझ रखने वाले बुद्धिजीवी मार्क्सवाद को दुराग्रह की उस सीमा तक ले जाते हैं, जहां आर्थिक और सामाजिक मुक्ति का हकदार मनुष्य सिर्फ तभी बन सकता है, जब वर्ग-चेतना और वर्ग-संघर्ष की चेतना के अलावा अपनी सारी भावनाओं अनुभूतियों और सोच-विचार को वह तिलांजिलि दे दे। मार्क्सवाद को मतवादी दुराग्रह और सैद्धांतिक कठमुल्लेपन की हद तक खींच ले जाने वाले बुद्धिजीवियों ने ही इसे कला और साहित्य के क्षेत्र में सृजनात्मक उत्सों के बहुआयामी होने के प्रति नकार तथा हनन का पर्याय बना दिया है। जो कुछ मार्क्सवादी सैद्धांतिकता के चौखटे के भीतर नहीं, वह सारा का सारा प्रयोजनहीन है, यह हठवादिता साहित्य के क्षेत्र में सिर्फ अनिष्ट ही कर सकती है।

मनुष्य सामाजिक इकाई है, किंतु उसका सब कुछ सार्वजनिकता अथवा राजनैतिक मतवाद के स्तर पर 'अव्यक्तिगत' अथवा 'स्टेट्स पॉपर्टी' हो जाने पर उसका सिर्फ व्यक्तिगत ही नहीं, आत्मगत भी नष्ट हो जाता है। पेट को अंतःकरण पर वरीयता देने की सैद्धांतिकता कला और साहित्य के लिए सिर्फ खतरनाक होती है। 'व्यक्तिगत' सिर्फ तभी अवांछित कहा जा सकता है, जब उससे सामाजिक मूल्यों की क्षति होती हो। रचना का 'व्यक्तिगत' होना नहीं, मानवीय न होना अस्वस्तिकर होता है। कोई कहानी शोषण-उत्पीड़न वर्ग-चेतना के सारे सामाजिक उपादनों के बावजूद रद्दी हो सकती है और सिर्फ निजी जीवन और अनुभूतियों को केंद्र बनाकर लिखी गई कहानी भी श्रेष्ठ रचना हो सकती है। वर्ग-चेतना या कि वर्ग-संघर्ष का पुट दे देने-भर से ही कहानी के मूल्यवान हो जाने की इस दावेदारी ने ही प्रगतिशील लेखन के नाम पर सतही कहानियों का इतना बड़ा मलबा हिंदी साहित्य में इकट्ठा कर दिया है।

शाह के कहानी-संग्रह के विवेचन में जाने की यहां गुंजाइश नहीं, लेकिन रचना के गुण-दोष का विवेचन भी पड़ताल के स्तर पर होना चाहिए, मतवाद की घेराबंदी के माध्यम से नहीं। गाय पर लिखे गए की पड़ताल **'लेखक को भैंस की समझ नहीं है'** के धरातल पर नहीं, गाय के बारे में गलत लिखे गए के आधार पर होनी चाहिए। पारिवारिक अथवा प्रेम-प्रसंगों की कहानियों में वर्ग-चेतना या वर्ग-संघर्ष का अभाव निरूपित करना ठीक नहीं।

अपने उद्धृत कथन को लेकर सिर्फ इतना कहना है कि जहां वर्ग-चेतना ही एकमात्र निकष हो, वहां आत्म-विश्लेषण की संश्लिष्टता का वजूद ही कहां होगा ? समीक्षक के निकट वैचारिक मुक्ति का सिर्फ एक ही अर्थ दिखता है—विचार करना यदि मार्क्सवाद के चौखटे के भीतर है, तो ठीक, अन्यथा यह पूंजीवादी शक्तियों के हाथ मजबूत करना है। बहरहाल शाह को उन्होंने **जबरदस्ती वैचारिक मुक्ति कामी** बनाए जाने के खतरे से बचा लिया है और **'स्वानुभूति-निरूपिणी'** रचना को **'वाह्यार्थ-निरूपिणी'** रचना बना लेने का गुर उन्हें बता दिया है, इस नाते प्रस्तुत समीक्षा के महत्व को नकारा नहीं जा सकता। □

शालीनता का मोल

मृणाल पांडे

संपादकीय प्रस्तावना के अनुसार यह संग्रह भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद द्वारा प्रकाशित अंग्रेजी कविता-संग्रह का परवर्ती खंड है।

प्रस्तुत कविता-संग्रह में हिंदी के साठ व सत्तर के दशकों में उभरे सत्ताईस कवियों की रचनाओं का अंग्रेजी में अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। संपादक हैं कैलाश वाजपेयी। अपनी भाषा की कविताओं को अनुवाद के ही, अपर्याप्त होने पर भी एकमात्र संभव, मार्ग से वृहत्तर पाठक समुदाय के सामने रखने का प्रयास अपने आप में एक स्तुत्य बात है। पर एक रचनात्मक प्रयास के रूप में उसकी सार्थकता का निर्वाह तभी हो सकता है जब अनुवादों की कोटि उम्दा हो, चयन सार्थक एवं सुनियोजित हो और कविता में शब्द महज शब्द नहीं, एक धड़कता हुआ शाब्दिक हृदय है, यह बोध उसमें पूरी तौर से व्याप्त हो।

इस दृष्टि से सबसे पहले तो संग्रह की बड़बोली प्रस्तावना संवेदनशील पाठकों को खटकती है। खुद अपने शब्दों में "शालीनता का मोल" देकर (..."at the cost of modesty") कवि द्वारा अपनी पूरमपूर कविता का सोच्छ्वास हवाला, फिर उसके बारे में दावा देना कि कैसे उसने हिंदी कविता-जगत को स्तब्ध कर दिया और रचनाशीलता में एक नए मोड़ को जन्म दिया, अपने ही संग्रह के प्रति आलोचकों के प्रशंसात्मक वक्तव्यों के लंबे उद्धरणों का हवाला देना ('संक्रांत' पर श्रीराम वर्मा), कुछ आलोचकों (नरेंद्र मोहन) पर सिर्फ इसलिए अनावश्यक आक्षेप, क्योंकि उन्होंने कैलाश वाजपेयी तथा (शालीनता का मोल चुकाते हुए) श्रीकांत वर्मा की कविता की निंदा की थी, आदि ऐसी बातें हैं जो मेरी राय में संपादकीय दायित्व तथा अपेक्षित तटस्थता की दृष्टि से कतई अशोभनीय हैं। अनूदित रचनाओं के संग्रह की प्रस्तावना में जो कुछ बातें जरूर होनी चाहिए थीं, वे इस सबमें रह ही गईं। मसलन हिंदी से अंग्रेजी में अनुवादों के निर्वाह का रास्ता, उन दोनों भाषाओं के बिंबों, ध्वन्यात्मक व सांस्कृतिक अनुषंगों को मद्देनजर रखते हुए उनका तुलनात्मक जिक्र तथा इन कविताओं के परंपरागत संदर्भों की अपेक्षित जानकारी। प्रस्तावना में हिंदी कविता के विकास के संदर्भों के साथ-साथ रचनाकार पर पड़ते राजनीतिक एवं सामाजिक वातावरण के दबावों का जिक्र तो हुआ है जो एक सही दिशा है, पर उसका निर्वाह प्रायः सतही तौर से ही हुआ है। कविता का 'विचारोन्मुख' (thought oriented) और 'विचारहीन' 'अकविता' (Anti-protry) जैसे खेमों में विभाजन भी बहुत स्थूल एवं कभी-कभी तो साहित्येतर आग्रहों से बोझिल लगता है। अकविता के खेमे में गिनाए नामों में से 'धूमिल' और सौमित्र मोहन भी हैं। उनकी कविता की ताकत और सचाई को देखते हुए उस पूरे ग्रुप पर यह सामान्य आक्षेप लगाना कि वह पूरी कविता भारत-पाक युद्ध द्वारा उत्प्रेरित निम्न बुद्धि हलचलों से प्रेरित थी, हास्यास्पद मालूम देता है। कविता में 'विचार' एक पस्वमे या कि लेख में आए 'विचार' से कतई भिन्न और जटिलतर प्रक्रियाओं से गुजरकर अपना रूप हासिल करता है और इसी से उसके रूप में एक तरल लचीलापन और एक हल्का विसंगतिपूर्ण, विद्रूपमय, पर वृहत्तर आयाम हमेशा बना रहता है। इसी से कविता में विचारों की पड़ताल मात्र 'अर्थ' या 'विचार' के सहारे करना अनुवाद कार्य की शुरुआत ही गलत तौर से करना होगा।

अब यहां से अनुवादों पर नजर डाली जाए। हमारे यहां हिंदी से अंग्रेजी जैसी मूलतः भिन्न तथा सांस्कृतिक तौर से अपने तईं पुष्ट एवं फली-फूली भाषा में अनुवाद करते वक्त अनुवादक प्रायः यह भूल जाते हैं कि अंग्रेजी शब्दों का वह तात्कालिक अर्थ जो उन्हें प्रायः अपनी स्कूली शिक्षा तथा शब्दकोशों के माध्यम से मिलता है (हिंदी के शब्दों की तरह ही), उस पूरी संस्कृति के लंबे शाब्दिक इतिहास का छोटा क्षण-भर है। और कई शब्द जो अंग्रेजी में पुराने या संदर्भच्युत हो गए हैं, या जिन्हें वहां एक आर्ष प्रयोग के बतौर ही इस्तेमाल किया जाता है, उन्हें हमारे अनुवादक हिंदी मूल की सारी खूबसूरती या ताजेपन को नष्ट करते हुए धड़ल्ले से प्रयोग करते हैं। मसलन 'धूमिल' की कविता में, "हमारे भीतर तरबूज कट रहे होते हैं" (**उस औरत की बगल में लेटकर**) का (नरेंद्र वशिष्ठ द्वारा) यह अनुवाद "Watermelons are being chopped"। अंग्रेजी में chopped शब्द का अर्थ कम से कम खाद्य सामग्री के संदर्भ में महीन कतरने के लिए होता है (जैसे प्याज या हरा धनिया महीन बनाना)। अब जो भी तरबूज के परिप्रेक्ष्य में इस शब्द के कारण कसाई के गंडासे से

कीमा बनाने की तरह के दृश्य की यह कल्पना देखेगा, वह यदि मूल से नावाकिफ होगा (जैसी कि पूरी संभावना है), तो वह मूल का शब्द-सौंदर्य और तकलीफ कभी नहीं पकड़ पाएगा। इसी तरह, कैलाश वाजपेयी की कविता "Half of my body" के (गिरिजा कुमार माथुर द्वारा किए) अनुवाद में शब्द-प्रयोग हुआ है—"I am a half face"। सही तौर पर "I am half a face" या "I am a half faced man" यह होगा। "half face" शब्द संयुक्त रूप से संज्ञा के रूप में प्रयुक्त करना गलत है। इस तरह के शब्दों में सिर्फ "half-caste" एक स्वीकृत शब्द है, अतः अपवाद भी। शायद अनुवादक का तर्क यह रहा हो कि कविता व्याकरण के पीछे नहीं जाती। यह सही है, पर अपने मूल रूप में कवि को भाषा के साथ प्रयोगशीलता की जो आजादी है, वह अनुवाद में अनिवार्यतः कम हो जाती है, क्योंकि वह मूल के परे अब एक ऐसी भाषा में जा रहा है जिसके शब्द-विन्यासों के अपने अर्थ दायरे हैं, जिन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता। महज शाब्दिक अनुवाद इसी से मूल कविता के साथ अन्याय करता है। फिर, दोनों भाषाओं में पूर्वसर्गों का भी इस्तेमाल भिन्न तौर से होता है। यथा—"Youth is but another name **of** Spring"। "शायद यौवन वसंत का दूसरा नाम है" का शाब्दिक अनुवाद है, जबकि अंग्रेजी में यहां व्याकरण सम्मत दृष्टि से for का प्रयोग होना था। यह भूल वैसे तो अपने आप में छोटी है, पर चूंकि कविता में कथ्य व संप्रेषण का माध्यम, दोनों ही भूमिका भाषा अदा करती है, यह गलतियां मूल के रचना कौशल व सहज प्रवाह को अटकाती हैं और इसी से इनका संपादकीय निराकरण और इनके प्रति खास ध्यान दिया जाना जरूरी था।

इस प्रकार की गलतियां बेशुमार हैं। जैसे, "Why the trees wcn't stay with us" के बजाय "Why won't the trees stay with us."।

"The office chair shines **a new bright**"। (P. 68)

"It was faith
That I had *on* you"। (P.70)

पर सभी कविताओं की यह दशा नहीं हुई है। कुछ अनुवाद काफी अच्छे बन पड़े हैं। मसलन विष्णु खरे की कविताओं के (स्वयंकृत), रमेशचंद्र शाह (स्वयं), ऋतुराज (अनु० प्रभाकर माचवे) तथा विनोदकुमार भारद्वाज (बृजभूषण शर्मा)। इनमें तकरीबन सभी ने मूल की भाषा के शाब्दिक अर्थों में न जाकर कविता की आत्मा को पकड़कर उसकी पुनर्रचना की है। यह काम बेहद कष्ट-साध्य तो है ही, इसके लिए एक कवि-चेतना और डाक्टरी तटस्थता, दोनों ही अनिवार्य हैं। इन अनुवादों की उपस्थिति यह सिद्ध करती है कि अच्छे अनुवादों की सर्जना (पुनर्रचना नहीं, सर्जना ही कहना होगा) संभव है और हो रही है। जरूरत है अच्छे संपादकों की, जो सार-सार को गहकर थोथा उड़ाने लायक विवेक एवं गुणग्राही विनयशीलता रखते हों, वरना अंग्रेजी पाटकों की यह बड़बोली धारणा कि हिंदी में कुछ खास काम नहीं हो रहा है (नकलनवीसी के अतिरिक्त) पुष्ट ही होगी, और साक्ष्य के अभाव में दोष उनका न होगा।

संग्रह में जिन कवियों की रचनाएं हैं, उनके नाम—

अब्दुल बिस्मिल्लाह, अरुण सेदवाल, बलदेव वंशी, चंद्रकांत देवताले, धूमिल, इंदु जैन, जगदीश चतुर्वेदी, कैलाश वाजपेयी, कमलेश, एच.एस. लाल, कन्हैयालाल नंदन, मलयज, ममता कालिया, मणि मधुकर, नरेंद्र वशिष्ठ, ओमप्रकाश निर्मल, रमेश चंद्र शाह, ऋतुराज, श्रीराम वर्मा, राजी सेठ, श्याम विमल, सुमति अय्यर, सुनीता जैन, विनोद कुमार भारद्वाज, विनय, विष्णु खरे तथा विष्णु नागर।

Visions And Myths, An Anthology of Contemporary—Hindi Poetry; संपादक—कैलाश वाजपेयी; 'इंडियन लिटरेरी रिव्यू' संस्करण; ई/180 ग्रेटर कैलाश भाग 2, नई दिल्ली; 20 रुपए।

गांधी जी

सतही तौर पर दार्शनिक और चिंतक में कोई मूलभूत अंतर स्पष्ट दिखाई नहीं देता, लेकिन गहराई से देखने पर दोनों का अंतर स्पष्ट हो जाता है। दार्शनिक का चिंतन किसी वाद या पंथ या संप्रदाय का रूप लेकर सामने आता है। वह विश्लेषण द्वारा समग्र रूप से समस्या का समाधान करके उसे जड़ से उखाड़ फेंकना चाहता है—वे समाधान स्थान-समय सापेक्ष होते हैं। जबकि चिंतक अपने समय में अपने सम्मुख उपस्थित समस्या का समाधान ढूंढ़ निकालता है। वह किसी खास सिद्धांत पर आ पहुंचता है, लेकिन उस सिद्धांत को एक तर्कसंगत प्रणाली का रूप नहीं देता। दूसरे शब्दों में, वह अपने चिंतन को सुव्यवस्थित नहीं करता।

प्राचीन काल के सुधारक और पैगंबर भी चिंतक ही थे। इसी तरह गंभीर चिंतक के रूप में उपस्थित हुए मोहनदास कर्मचंद गांधी। किसी खास परिस्थिति में उत्पन्न, जीवन की किसी भी समस्या को—वे जिस रूप में उठतीं और उनके सामने आतीं, गांधीजी अपने मूलभूत नैतिक सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए हल कर लिया करते थे और अपने उस हल को तर्कसंगत प्रणाली का रूप देने का जोखिम नहीं उठाते थे। इसलिए उन पर अध्ययन करने वाले को अक्सर उनके लेखों और भाषणों में तालमेल नजर नहीं आता है। असलियत यह है कि उनके लेखों और भाषणों में उद्देश्य और ध्येय की मूलभूत एकता तो है और तालमेल के तत्व भी मौजूद हैं, पर उन्हें व्यवस्थित करके एक प्रणाली का रूप नहीं दिया गया है।

तर्कसंगत प्रणाली अक्सर कट्टर, रूढ़िवादी और सैद्धांतिक बन जाती है और इस कारण मुक्त शोध और प्रयोग

दार्शनिक नहीं, चिंतक थे !

किसलय बंद्योपाध्याय

में बाधाएं उत्पन्न होती हैं और विकास कठिन हो जाता है क्योंकि ये रूढ़ मान्यतायं और सिद्धांत समय के साथ-साथ अपनी जीवनी शक्ति और सर्जनात्मक प्रेरणा खो बैठती हैं।

दूसरी ओर किसी एक प्रणाली का अभाव, प्रणाली पर आधारित विचारों और कार्यों में समन्वय और एकता न होने से परस्पर विरोधी विचारों और आचरणों को बढ़ावा मिलता है। इन आचरणों का औचित्य सिद्ध करने के लिए अक्सर असंबद्ध अभिव्यक्ति और कार्यों का प्रमाण उपस्थित होता है और परिवर्तन असंभव हो जाता है।

अपरिवर्तनीय प्रणाली और उसके कट्टर नियम या किसी तरह की प्रणाली न होने की स्थिति—इन दोनों उग्र मार्गों के बीच एक मध्यम मार्ग को ढूंढ़कर उस पर अमल करने की शिक्षा भारत को सर्वप्रथम मिली गांधीजी से। उनकी इस प्रणाली के अनुसार, समस्या के समाधान के लिए मौलिक सिद्धांतों और मूल्यां का निरूपण कर दिया जाता है और उनका प्रयोग व्यक्तियों और समूहों के विवेक पर छोड़ दिया जाता है।

आचार्य कृपलानी ने अपनी पुस्तक **महात्मा गांधी : जीवन और चिंतन** में महात्मा गांधी के उसी पक्ष को लेकर काफी लिखा है और क्योंकि किसी व्यक्ति के चिंतन और दर्शन को जानने, विशेषकर पहचानने और विश्लेषण करने के लिए उस व्यक्ति के जीवन और जीवन-दर्शन को भी जानना जरूरी है, इसीलिए कृपलानीजी ने गांधीजी के जीवन को भी काफी गंभीरता से लिया है।

कृपलानी ने गांधीजी के जीवन को क्रमानुसार नहीं लिया है बल्कि घटनाओं के अनुसार व्यवस्थित कर अलग-अलग खंडों में लिखा है और इस पुस्तक की यह एक विशेषता है। उन्होंने गांधीजी के जीवन के महत्वपूर्ण पक्षों को लेकर 37 स्वयं संपूर्ण लेख लिखे हैं। इस तरह से गांधीजी पर खोज या शोध करने वाले के लिए यह एक आवश्यक और पूरक ग्रंथ बन गया है। गांधीजी की आत्मकथा से लेकर; विभिन्न पक्षों पर लिखी गई समस्त पुस्तकों को पढ़ लेने के बाद स्वाभाविक रूप से कुछेक प्रश्न जेहन में उठ खड़े होते हैं और उनका उत्तर खोजा जा सकता है **महात्मा गाँधी : जीवन और चिंतन** में।

गांधीजी के जीवन में समय-समय पर आने वाले लोगों ने, गांधीजी पर अलग-अलग पुस्तकों की रचना की है और कई स्थानों पर भ्रामक तथ्यों को स्थान दिया है। ऐसा उन्होंने जान-बूझकर किया या भूल से हो गया, यह समझ पाना दुष्कर है। लेकिन जहां तक संभव हो सके, उन तथ्यों का सही निरूपण करने का कर्त्तव्य भी गांधीजी के सहयोगियों का ही है। कृपलानीजी ने, जहां-जहां संभव हो सका है, उद्धरणों एवं दस्तावेजों के सहारे उन भ्रामक तथ्यों का खंडन किया है। प्यारेलाल की **महात्मा गाँधी : द लास्ट फेज** तथा मौलाना आजाद की **इंडिया विन्स फ्रीडम** ऐसी ही पुस्तकें हैं, जिनमें उल्लिखित भ्रामक प्रसंगों का उन्होंने खंडन किया है।

गाँधी जी और श्रमिक वर्ग : गांधी जी के विचार एवं चिंतन का एक महत्व पूर्ण अंग है आर्थिक एवं औद्योगिक उन्नयन। विषद रूप से भारतवर्ष की पृष्ठभूमि में श्रम एवं श्रमिकों के साथ व्यवहार और औद्योगिक उन्नयन के साथ-साथ श्रमिकों के जीवन और आर्थिक पहलुओं पर कारगर विचार। गांधीजी ने अपने जीवन में इन पहलुओं पर काफी गंभीरता से सोचा और लिखा। **इकॉनॉमिक एंड इंडस्ट्रियल लाइफ एंड रिलेशन** तीन खडों में प्रकाशित हुई। कृपालानी जी ने गांधीजी के जीवन पर लिखते वक्त 'श्रमिकों और किसानों के साथ' विषय को लिया, लेकिन सिर्फ गांधीजी द्वारा संस्थापित अहमदाबाद मिल मजदूर संघ का उल्लेख एवं खेड़ा के किसान सत्याग्रह का विवरण देकर ही रह गए। गांधीजी का इस क्षेत्र में चिंतन और उनके आदर्श श्रमिक व्यवहार संबंधी विचार को उन्होंने अपना विषय नहीं बनाया, जबकि इस महत्वपूर्ण क्षेत्र में गांधी जी के महत्वपूर्ण विचार का विश्लेषण होना बहुत ही आवश्यक था। हमारा दुर्भाग्य ही है कि आज औद्योगिक विकास के संक्रमण काल में हम गांधीजी को भूल ही जाते हैं। यह भी विडंबना ही है कि जिनसे हम गांधीजी पर समग्र रूप से जानकारी की आशा करते हैं, वे भी गांधीजी के इस महत्वपूर्ण पक्ष पर बातचीत करना नहीं चाहते।

कृपलानी जी ने **इकॉनॉमिक एंड इंडस्ट्रियल लाइफ एंड रिलेशन** से और गांधीजी द्वारा दिए गए भाषणों पर आधारित दो लेख देकर अपनी पुस्तक को महत्वपूर्ण बनाया है। ये दोनों विषय हैं : 1. गांधीजी के आर्थिक विचार, और 2. गांधीजी और मार्क्स।

मार्क्स और गाँधी का चिंतन भेद : कृपलानीजी के अनुसार मार्क्स ने समाज में समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृभाव की स्थापना की प्रक्रिया की खोज की और यह पाया कि हर तरह के परिवर्तन की जड़, आर्थिक और उसमें भी खासकर उत्पादन की पद्धति में निहित है और इसीलिए उत्पादन के साधनों पर जिनका

अधिकार है और जिनके पास उन साधनों का अभाव है, उनके बीच वर्ग संघर्ष द्वारा ही परिवर्तन किया जा सकता है। वर्गहीन समाज की स्थापना सर्वहारा वर्ग की तथाकथित तानाशाही द्वारा ही संभव है। यह तानाशाही बाद में लोकतंत्र की स्थापना करेगी और राष्ट्रों की संकुचित भावना का अंत हो जाएगा।

गांधीजी ने भी व्यक्ति या समूह के जीवन में आर्थिक तत्वों के महत्व का मूल्यांकन नहीं किया। उनका उद्देश्य भी था समानता, स्वतंत्रता, भ्रातृभाव और लोकतंत्र की स्थापना। परंतु वह हिंसा पर आधारभूत तानाशाही द्वारा अपने आप लोकतंत्र की स्थापना को नहीं मानते थे। तर्क के अनुसार किसी स्थायी और व्यापक क्रांति का आरंभ भी आखिर मूल्यों पर नए सिरे से विचार करने से ही होता है। गांधीजी चाहते थे कि मनुष्य अपने व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहार में जिस नैतिकता का ध्यान रखता है, अपने राजनीतिक व्यवहार में भी उसका पालन करे। मानव कल्याण का ध्येय सिद्ध करने के लिए जिन साधनों का प्रयोग हो, वे भी ध्येय के अनुरूप ही हों। साधनों में यदि नैतिकता भंग होती हो, तो उनके द्वारा जो साध्य सिद्ध होगा वह आशानुरूप नहीं होगा; क्योंकि छल-कपट और हिंसा से अक्सर तात्कालिक काम तो बन जाता है, लेकिन बाद में परिणाम उलटे निकलते हैं।

गांधीजी के चिंतन के अनुसार, भारत की स्वतंत्रता की लड़ाई में जो कुछ संभव हुआ, वही कुछ अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों के निपटान के लिए संभव हो सकता है और यह गांधीजी की नैतिकता को सर्वोपरि मानने वाली भावना का अनुसरण करके ही संभव होगा। उनके सत्य और अहिंसा के दो मूलभूत सिद्धांतों का अनुसरण करके, आज की परिभाषा के अनुसार उदार कूटनीति और निःशस्त्रीकरण के द्वारा ही यह काम किया जा सकता है।

गांधीजी ने खुद कार्ल मार्क्स का गहन अध्ययन किया था, लेकिन बहुत बाद में। फरवरी - मार्च 1943 में जब गांधीजी जेल में थे, तभी पहली बार उन्होंने **दास कैपिटल** को पहली बार पढ़ा और टिप्पणी करते हुए कहा कि वह खुद कार्ल मार्क्स से अच्छा लिख सकते थे, बशर्ते कि उनके पास भी मार्क्स जितना समय अध्ययन के लिए होता!

मार्क्सवाद सही है या गलत—इस प्रश्न पर गांधीजी का मत जानना चाहा गया, तो उन्होंने कहा—"मैं इसकी परवाह नहीं करता कि मार्क्सवाद ठीक है या गलत। मैं केवल इतना जानता हूं कि गरीब पिस रहे हैं।"

समग्र रूप से गांधीजी की चिंतन-धारा सिर्फ भारतवर्ष की स्वाधीनता और उसके उपरांत लोकतांत्रिक सरकार की स्थापना तक ही सीमित नहीं थी। उन्होंने अपने जीवन दर्शन के द्वारा भारतवर्ष की स्थिति को सामने रखते हुए सिद्धांतों का निरूपण किया। उनका मत था कि भारतवर्ष का अधोपतन भयंकर गरीबी के कारण ही हुआ, इसी-लिए भारतवर्ष के उत्थान के लिए कम-जोर वर्ग का उत्थान आवश्यक है। उन्होंने सिर्फ सिद्धांतों के व्यावहारिक पक्ष का ही उल्लेख किया है और उसे प्रणाली का रूप देने का दायित्व व्यक्ति या व्यक्ति-समूह पर छोड़ दिया है। समानता और स्वतंत्रता के लिए उन्होंने धर्म और समाज में नारी के स्थान को भी अपना विषय बनाया है।

कृपलानी जी ने गांधीजी के सिद्धांतों पर अमल करने के लिए उनके विचारों का अध्ययन करने पर जोर दिया है और अध्ययन करते समय एकपक्षीय दृष्टिकोण से बचने के लिए उदार मनो-भाव और विचार करने की क्षमता का होना आवश्यक समझा है। उन्होंने लिखा है—

"उनका (गाँधीजी) अध्ययन करते समय मौलिक सिद्धाँतों को पूरी स्पष्टता से सामने रखना चाहिए, उनमें निहित निश्चित फलितार्थों को समझना चाहिए और उनका कार्यक्षेत्र निश्चित कर देना चाहिए। निस्संदेह इसके लिए उनके ग्रंथों का ही नहीं बल्कि उनके जीवन का भी विस्तार से, सावधानी के साथ और समीक्षात्मक अध्ययन अभीष्ट है।...ऐसे अध्ययन से अविचारित, एकपक्षीय तथा अज्ञानपूर्ण दृष्टिकोण से सहज ही बचा जा सकेगा; साथ ही उत्साहाधिक्य का भावातिरेक भी रुकेगा।

"बुद्धिजीवी शब्द को यदि शास्त्रीय रूप में लें तो गाँधीजी को बुद्धिजीवी नहीं कहा जा सकता। वे विद्वान या दार्शनिक नहीं थे। सिद्धाँत प्रतिपादन में भी उनकी रुचि नहीं थी। उनका चिंतन तो किसी अध्ययनशील विद्यार्थी जैसा न होकर सर्जनात्मक शक्ति से संपन्न किसी प्रतिभाशाली व्यक्ति जैसा था। मुख्यतः तो वे कर्मशील व्यक्ति थे। उन्होंने लिखा तो बहुत है। परंतु जो कुछ उन्होंने लिखा है वह ज्ञानवर्द्धन के उनके बताए कार्य के लिए मार्गदर्शन के उद्देश्य से ही लिखा गया।

"अपने विचारों के प्रचार और और लोगों को अपने विचार तथा आचरण के प्रति आकर्षित करने के लिए एक व्यावहारिक सुधारक के नाते गाँधीजी ने तो उपदेश और प्रवचन से अधिक अपने खुद के उदाहरण पर ही ज्यादा भरोसा किया। इसी का यह परिणाम है कि न केवल सिद्धाँत की दृष्टि से ही उनमें कुछ कमियाँ रह गई हैं बल्कि उनकी कुछ बातें परस्पर-विरोधी भी मालूम पड़ती हैं, जिनका उनकी समग्र विचारधारा के आधार पर समाधान करना पड़ता है।"

महात्मा गांधी : जीवन और चिंतन; जीवतराम भगवानदास कृपलानी; प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001; बारह रुपये

रामकथा की अभिनव दृश्य-दीर्घा

● इंदुजा अवस्थी

कमला रत्नम् की पुस्तिका **लाओस में रामकथा** बृहत्तर भारत के हमारे घनिष्ठ देश लाओस में प्रचलित चिर-लोकप्रिय रामकथा के विभिन्न प्रसंगों का वास्तविक साक्षात्कार है। इसमें लाओस के बौद्ध मंदिरों के भित्तिचित्रों में अंकित रामकथा के विभिन्न प्रसंगों का रोचक और रसमय विवरण प्रस्तुत किया गया है।

यह तथ्य सर्वविदित है कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के लगभग सभी देशों में राम की कथा अतिशय लोकप्रिय है। शत-शत कंठों द्वारा निरंतर अनुगीयमान यह सम्मोहक और प्रभावी कथा अपने मूल रूप को अक्षुण्ण रखती हुई परिस्थिति-अनुसार किंचित परिवर्तित होती रही है। इन सभी देशों में रामकथा की अभिव्यक्ति विख्यात कवियों द्वारा रचित रामायणों, रामायण-नाट्यों तथा मूर्ति और चित्र-कलाओं में हुई है। ये तीनों ही कला-अभिव्यक्तियां इन देशों की रामकथा का परिचय प्राप्त करने के लिए समान महत्व रखती हैं। लेखिका ने लाओस के रामकथा संबंधी भित्तिचित्रों का विवरण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बतलाते हुए बड़ी भाव-प्रवणता से किया है, अतः उनकी यह पुस्तक अत्यंत उपयोगी है।

दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों की संस्कृति का अध्ययन—विशेषकर उनमें रामायण-प्रभाविता का अध्ययन—अनेक पश्चिमी विद्वानों ने किया है, और बड़े परिश्रम तथा विस्तार के साथ किया है; फिर भी, जब एक भारतीय की लेखनी इस विषय पर चलती है, तो उसमें कहीं मन में गहरे पैठी राम की निष्ठा उजागर हो उठती है, पीढ़ी-दर-पीढ़ी से संस्कार के रूप में अंतर में समाई राम के चरित्र की पहचान जाग उठती है और विश्लेषण में सहज आत्मीयता आ जाती है, जो उसे प्राणवंत कर देती है। इसी संदर्भ में **विद्यानिवास मिश्र** द्वारा भूमिका में कही बात उपयुक्त प्रतीत होती है, "**लाओस में रामकथा** में कथा ही नहीं, कथा की रसानुभूति भी है।"

कमला रत्नम् संस्कृत की विदुषी और प्रेमी हैं। वह अपने राजदूत पति के साथ दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों में काफी समय तक रही हैं। उन्होंने उन देशों की संस्कृति तथा उस पर रामकथा के प्रभाव का परिचय प्राप्त किया है। इसी से वह बड़ी समर्थ प्रांजल भाषा में और स्पष्ट समझ-बूझ के साथ अपनी बात पाठक तक पहुंचा सकी हैं।

लेखिका ने लिखा है कि लाओस में रामकथा के दो संस्करण मिलते हैं। लुआङ् प्रबाङ् और वियेनत्यान की रामायण में कुछ अंतर है, जो वाट (मंदिर) प S के S तथा वाट उप मुओङ् में अंकित भित्तिचित्रों में स्पष्ट होते हैं। इन भित्तिचित्रों का स्पष्ट विवरण देते हुए लेखिका ने यह भी निर्देश किया है कि भारतीय संकल्पना से इन प्रसंगों में कहां अंतर आ गए हैं। उन्होंने यह सहज निष्कर्ष निकाला है कि रामायण जिस प्रकार लाव-जीवन में घुलमिल गई है, उससे स्वाभाविक है कि लाव-रामायण के पात्र अपने आचरण में लाव-परंपराओं और व्यवहारों का पालन करते हैं। उदाहरण के लिए, लाव-रामायण में न राम (लाम) एक-पत्नीव्रती हैं, न हनुमान (हनुमोन) ब्रह्मचारी, परंतु इससे उनके आदर्श और चरित्रवान होने में कोई क्षति नहीं होती क्योंकि लाव-समाज के आदर्शों के अनुसार उनका आचरण निर्दोष है और उन परिस्थितियों के अनुकूल होने से अधिक स्वाभाविक लगता है। 'लाओस की रामायण' ('फा लाक फा लाम') का महत्व इसलिए और अधिक है, क्योंकि अन्य कृतियों के अभाव में यह अकेली पुस्तक है जो "लाव-जीवन, लाओस में रहने वाले मनुष्यों, वन-नदी-पर्वतों और पशु-पक्षियों की अधिकृत रूप से जानकारी देती है"।

पुस्तक में पहले लाओस के इतिहास का परिचय दिया गया है और फिर लाओस में रामकथा के विस्तार का परिचय देते हुए दो रामायणों की चर्चा की गई है—'फा लाक फा लाम' और 'फोम्मचाक'। 'फोम्मचाक' ब्रह्मचक्र शब्द का लाव रूप है। उसमें राम को बोधिसत्व मानते हुए रामकथा को बुद्ध के किसी पुनर्जन्म की कथा के रूप में वर्णित किया गया है। पुस्तक के प्रारंभ में लाव-संस्कृत शब्द-सूची भी दी गई है। उससे स्पष्ट होता है कि लाव रामायण में रामकथा के परिचित पात्रों और स्थानों के संस्कृत नामों को लाव-भाषा के अनुरूप ढाल लिया गया है। फा लाक (प्रिय लक्ष्मण), फा लाम (प्रिय राम), कैकेसी (कैकेयी), सीडा (सीता), हाफन सुआन (रावण असुर), खिटकिन (किष्किंधा), लंग्का (लंका) और सरफू (सरयू) आदि को देखकर लगता है कि अपने परिवर्तित नामों के साथ ये पात्र और स्थल किस प्रकार लाओस के अपने बन गए हैं।

लेखिका ने अपनी पुस्तक में भित्तिचित्रों के विवरण के साथ उनकी फोटो अनुकृतियां भी दी हैं, जिससे पुस्तक का आकर्षण बढ़ गया है। इंदोनीसिया में परमभवान मंदिरों के प्रसिद्ध भित्तिचित्रों को देखते हुए मुझे लगा था कि इनके संबंध में हिंदी में कोई परिचय पुस्तिका हो, तो अनेकानेक भारतीयों को यह जानकर कितनी प्रसन्नता होगी कि किसी सुदूर देश में उनके प्रिय पात्र मंदिर की भित्ति पर अपने मूल किंतु किंचित नए रूप में जीवंत हैं। इसी से लाव भित्तिचित्रों संबंधी इस पुस्तक को देखकर मुझे अत्यंत प्रसन्नता हुई। मुझे यह भी लगा है कि इन सभी देशों में उनके बड़े सुनाम कवियों ने रामायणें लिखीं, तो उन्हें वाल्मीकि-रामायण के अनुरूप रखा, पर वही रामायण-कथा जब जनमानस में घुल-मिलकर लोककंठ में अभिव्यक्त हुई, तो उसमें लोक परंपराओं का रंग आ गया जो वहां के रामायण-नाट्यों और भित्तिचित्रों में प्रकट हुआ। इस संदर्भ में भित्तिचित्रों की चर्चा महत्वपूर्ण हो जाती है।

(पुस्तक के विषय में लेखिका का अत्मकथ्य देखें पृष्ठ 6 पर)

लाओस में रामकथा
कमला रत्नम्; मानस संगम, कानपुर; 18 रुपए।

उदासीन संबंध

माजदा असद

इस संग्रह में ग्यारह कहानियां हैं। हर कहानी की अपनी अलग पहचान है। मध्यवर्गीय समाज के साथ-साथ प्रत्येक कहानी को पढ़ने से यह भी ध्वनित होता है कि कहानी किस समय और किन परिस्थितियों में लिखी गई है। 'सन्नाटा' कहानी में शुरू से अंत तक एक सन्नाटे की-सी स्थिति की अनुभूति होती है। लोग आंखों-आंखों में पूछते हैं, "किसके पास जाना है" लेकिन शब्दों में नहीं। श्रीमती वर्मा और उनकी किशोरावस्था को पार करती हुई बेटी 'किटी' के बीच संबंधों में भी एक सन्नाटा छाया रहता है। जीवन की सामान्य सुख-सुविधाओं को मां-बेटी ने बंबई जैसे नगर में हासिल कर लिया है, किंतु दोनों अपने-अपने कमरों में, अपने आपमें बंद हैं और घर में सन्नाटे की प्रतिध्वनि निरंतर होती है। वर्तमान जीवन में सबंधों की उदासीनता की प्रतिध्वनि भी इस कहानी में सुनाई देती है। मां कहती है, "अपनी शादी के बारे में वह खुद सोचेगी। जब जहां, जिससे चाहेगी, शादी कर लेगी।" मां-बेटी एक-दूसरे से कितनी दूर हैं। मां के शब्दों में, "कैसी अजीब बात है। हमारे बीच जब तक कोई तीसरा व्यक्ति न आए, हमें यह अहसास ही नहीं होता कि हम मां-बेटी हैं। हमें आपस में कोई बात किए हफ्तों गुजर जाते हैं। फ्लैट में एक-दूसरे की छाया देखकर हमें, बस, एक-दूसरे के होने का अहसास होता है। अलग-अलग कमरे, अलग-अलग बाथ-रूम—यहां तक कि टूथपेस्ट भी अलग-अलग।"

'मौत का एक दिन' कहानी में भी उसका लेखन-काल और तत्कालीन परिस्थितियों की पुकार बोल रही है। सामान्य आदमी तत्कालीन जरूरी आवश्यकताओं को पूरा करने में अपने आपको कितना असमर्थ अनुभव कर रहा है! असहायता की स्थिति इतनी गंभीर है कि थोड़ी देर के बाद उसे यह अहसास होने लगता है कि 'मौत का एक दिन मुअय्यन है'···किंतु वह मुअय्यन दिन उसे अपने ऊपर हर पल सवार होता हुआ नजर आता है।

'अवध' कहानी में अध्यापन जीवन के सबसे बोर और अधिक उबा देने वाले कार्य—परीक्षाओं में निरीक्षण—की चर्चा है। तीन घंटे की इस अवधि को लेखक ने बड़े सफल ढंग से कहानी में बांधकर परीक्षा के वातावरण को साकार कर दिया है। 'वह' कहानी में नई पीढ़ी आगे बढ़कर उस पुरानी पीढ़ी का स्थान लेना चाहती है जो नौजवानों को आगे नहीं बढ़ने देना चाहती। "यह विजय देवराज की नहीं, तरुणाई की विजय है, उस बूढ़ी पीढ़ी के खिलाफ जो गद्दी से चिपकी रहना चाहती है, जो नौजवानों को आगे नहीं बढ़ने देना चाहती।" कहानी में छिपा हुआ व्यंग्य यह है कि युवक संसद-सदस्य के स्वागत में किए गए समारोह में जब फिल्मी नायक पहुंच जाता है, तो लोगों की रुचि उसमें बढ़ते लगती है। "देवराज को एकाएक लगा, उस आदमी के व्यक्तित्व का घेरा बड़ा चौड़ा है। जिस कुर्सी पर वह बैठा है, उसके चारों ओर कितनी-कितनी दूर-दूर तक उसका व्यक्तित्व फैला हुआ है। फिर उसे आभास हुआ, वह स्वयं सिकुड़ता जा रहा है, बस, सिकुड़ता ही जा रहा है। उसे लगा, उस हाल के तालाब के जल का रंग ही बदल गया है। और वह सामने बैठा हुआ कुमार एक सम्राट है। वहां बैठे हुए सब लोग उसकी प्रजा हैं—वह भी।"

'कितने संबंध' कहानी में भी वर्तमान जीवन की विसंगतियों और संबंधों की औपचारिकता का सफल नियोजन है: "स्कूटर से उतरकर मेरे कंधे पर हाथ रखती हैं और कहती हैं, 'भैया, कभी अपनी इस दुखियारी बहन से मिलने भी आ जाया करो।' मैं स्कूटर स्टार्ट रखता हूं। अपनी व्यस्तता का रोना रोता हूं···। आने का वायदा करता हूं और स्कूटर आगे बढ़ा लेता हूं। और कुछ महीने बाद फिर राखी या भैयादूज जैसा कोई अवसर आ जाता है। क्यों? क्या सोच रहे हो? दिखावा करने में मैं बहुत कुशल हूं। यही ना?"

महीप सिंह की सभी कहानियों में आज के जीवन की विसंगतियों का मार्मिक और वास्तविक चित्रण है। जन-जीवन में व्याप्त असुरक्षा की भावना और उससे उत्पन्न मानसिक तनाव और अवसरवादिता का स्वर इन कहानियों में प्रबल है। लेखक ने जीवन की घुटन, बिखराव को निकट से देखा है। महीप सिंह की कहानियां अपनी सहजता और स्वाभाविक अभिव्यक्ति के कारण अपने पाठक को प्रभावित करती हैं, किंतु संवेदना जगाने और अंतस्तल को स्पर्श करने की क्षमता उनमें नहीं।

सन्नाटे की चर्चा अधिकांश कहानियों में हुई है। यदि कहानी-संग्रह का नाम संबंध और सन्नाटा होता, तो ज्यादा उपयुक्त होता—ऐसा मेरा विचार है।

(कहानी-संग्रह के विषय में लेखक का आत्मकथ्य देखें पृष्ठ 6 पर)

कितने संबंध

महीप सिंह; लिपि प्रकाशन; दिल्ली; बारह रुपए।

राजेंद्र यादव से बातचीत (पृष्ठ 27 से आगे)

विडंबना से अधिक आडंबर और झूठ लगता है। कह लीजिए, इस समय मेरी एकमात्र चिंता या सरोकार अपनी 'आउट-ऑफ-जायंट' मानसिकता में कहीं एक लंगर तलाश कर लेने की ज्यादा है। जिस दिन या क्षण मुझे अपने होने की सार्थकता का अहसास होगा (नहीं कह सकता, वह शब्दों के माध्यम से ही ही होगा), शायद उस दिन इस सबके बावजूद मैं फिर उसी विश्वास से लेखन में उतर सकूंगा। ट्रेजेडी यह है कि यह भी मैं जानता हूं कि आप कुछ महत्वपूर्ण और सार्थक कर रहे हैं, यह आस्था; लिखने से लिखने तक के दौरान ही तो आएगी। ऐसा नहीं हो सकता कि पहले मानसिक रूप से बैठकर उस विश्वास की स्थिति को उपलब्ध कर लें, तब लिखें। कर्म में विश्वास होना और कर्म के दौरान उसमें विश्वास छील लेना, दोनों में अंतर है। कर्म की प्रक्रिया में फंसकर उसमें विश्वास करना ही अपनी मजबूरी भी तो हो सकती है। सच बात तो है कि बहुत बड़े मानसिक झमेले में फंसा हूं और अपने आपको बहुत सिनिक, कुछ गलत-सा लगता है। जो कला-साहित्य और सौंदर्य हमारे लिए अपने आप में लक्ष्य हो सकते हैं, वे दूसरे और ज्यादा समर्थ लोगों के प्रयोजनों के लिए मुखौटों से अधिक नहीं। तो क्या हमारी सारी ईमानदारी, समर्पण या उत्सर्ग की किस्मत में यही है कि वह दूसरों के हाथों इस्तेमाल और भ्रष्ट हो? इसके खिलाफ प्रतिरोध कहां से शुरू किया जाए? इस स्थिति को स्वीकार करना मेरे लिए, सचमुच, मुश्किल है कि जिसे मैं अपनी पूरी आस्था, क्षमता, शक्ति और व्यक्तित्व दूं—वह सिर्फ औरों के लिए अपने किन्हीं फौरी उद्देश्यों के लिए एक 'सांस्कृतिक-आइटम' बनकर रह जाए। यानी हम लाख रोएं-चीखें, कला हमारे सामाजिक ढांचे के केंद्र में कहीं नहीं है, वह किनारों या बाहरी सरहदों पर रहने वाली चीज है। फिर मैं अपनी इस **आकांक्षा को भी** तोलता हूं कि लेखक, कलाकार, चिंतक होकर आप समाज के केंद्र में क्यों बैठना चाहते हैं! आपकी जगह है ही बाहरी सरहदों पर। आप सिर्फ बड़े स्वागत कक्षों की शोभा में लटके झालर हैं। आप बैठने वाली कुर्सी की तरह उपयोगी भी तो नहीं हैं। अगर हों भी, तो आप कुर्सी बनना नहीं चाहेंगे। मगर खुद और दूसरे आपको यह भ्रम दिए रखते हैं कि वहां निमंत्रण है, वहां स्वागत है, वहां अध्यक्षता है, इसलिए, सचमुच आप महत्वपूर्ण हैं। मैं नहीं कह सकता कि मैं ही इस मानसिक संकट से गुजर रहा हूं या बाकी लोग भी इन प्रश्नों से ही जूझ रहे हैं। अगर यह स्थिति नहीं होती, तो शायद वे लोग भी मेरी तरह लिखना बंद न कर देते। यह बहुत बड़े सांस्कृतिक संकट की स्थिति है। एकाध का चुप हो जाना व्यक्तिगत क्षमताओं का चुक जाना हो सकता है। सारी की सारी पीढ़ी का कुछ भी सार्थक न कर पाना किसी जाति के नैतिक और आध्यात्मिक संकट का संकेत है। शायद इस संकट की जड़ यही है कि सभी ओर सही और गलत का भेद मिट गया है। पहले बाहरी दर्शन, ईश्वर या नैतिक मान्यताएं हमारे लिए सही-गलत तय कर देती थीं और हम उन्हीं के अनुसार निर्णय करते थे। बाहरी किसी भी ऐसी चीज के अस्वीकार ने भयानक दिग्भ्रांति दे दी है। व्यक्ति का अपना विवेक? मगर उसके पीछे कितने दबाव, तनाव, हित, लिहाज या अज्ञान नहीं होते? कम से कम बिना सामाजिक संदर्भ या प्रामाणिकता के वह सही-गलत कैसे तय कर सकता है? शायद अवचेतना में हम कहीं हर कर्म, लेखन निर्णय को इसीलिए स्थगित किए चले जा रहे हैं कि यह कन्फ्यूजन गुजर जाए तो कुछ करें। एक अजीब प्रारब्धवाद है। इस निष्क्रिय प्रतीक्षा ने स्थितियों के

राजेंद्र यादव पत्नी (मन्नू भंडारी) के सा

और बिगड़ने में मदद दी है। एक तरह विघटन के ढलान पर लुढ़का दिया है। धिक्कार भी उठता है कि कल या परसों क्यों? आज और अभी क्यों नहीं? मगर शुरुआत कहां से और कैसे हो? हम सामूहिक और व्यक्तिगत रूप से 'गोदो' के इंतजार की ही बीमारी के शिकार हैं। जीवन हो या लेखन, स्थगित स्थिति में रहे आना हमारा अपना स्वभाव बन गया है। यह व्यक्तिगत सुविधा-परस्ती या कमजोरी हो सकती है कि हम लोगों ने जिन आश्वासनों से जिंदगी और लेखन की शुरुआत की थी, उसमें से किसी को भी पूरा नहीं कर पाए और भटकन को ही महिमान्वित करते रहे···यह सारी मानसिक स्थिति मुझे न जाने क्यों क्रांतिपूर्व रूसी सांस्कृतिक जीवन की याद दिलाती है···। ●

हमें खेद है कि पूर्व-घोषित लेख (सुदर्शन नारंग की समीक्षा पर 'संचेतना' संपादक की प्रतिक्रिया) इस अंक में नहीं जा सका।

—संपादक

पत्र प्रतिक्रिया

शिवानी की टिप्पणी

—बटरोही

मई अंक में आदरणीया शिवानी जी की एक टिप्पणी प्रकाशित हुई है जिसमें मेरा भी उल्लेख है। अपने स्पष्टीकरण के लिए नहीं, शिवानी जी के साथ अपने संबंधों के कारण दो शब्द लिखना जरूरी है। उनके साथ मेरे काफी पारिवारिक-से संबंध रहे हैं। परिवार के बुजुर्ग की तरह उनका एक सहज आत्मीयतापूर्ण आतंक मेरे मन में सदा रहा है। व्यक्ति रूप में जो स्नेह और सहज व्यवहार उनका मिला है, वह मेरे लिए स्मरणीय है, हालांकि मुझे याद नहीं पड़ता कि कभी मैंने आमने-सामने उनसे बातें की हों। जिस पहली कहानी का उल्लेख उन्होंने किया है, वह भी मैंने 63-64 के आसपास, जब मैं इंटरमीडिएट का छात्र था, मृणाल (पांडे) या इला (ठीक याद नहीं है) ने उनके पास भेजी थी। निश्चय ही वह मेरी पहली कहानी थी। उनके लेखकीय व्यक्तित्व और पारिवारिक पृष्ठभूमि का इतना आतंक मेरे मन में था कि कई दिनों तक निश्चय ही नहीं कर पाया कि कैसे उनसे साक्षात्कार करूंगा। इला या मृणाल शायद उसके बाद भी घर आई थीं, लेकिन कुछ तो उम्र में छोटी होने के कारण और कुछ पारिवारिक वातावरण के आतंक के कारण संकोचवश मैं उनसे भी बात नहीं कर पाया। हिम्मत करके एक दिन पास के एक दवा विक्रेता की दुकान से मैंने फोन मिलाया। चपरासी ने मेरा नाम पूछा और शिवानी जी को बुलाने के लिए गया। थोड़ी ही देर में एक आवाज मेरे कानों में पड़ी, "आपकी कहानी शाम को भिजवा दूंगी!" और फोन रख दिया गया। इतनी-सी स्मृति मुझे है और शायद यह भी कि मेरी समझ में नहीं आया कि यह मेरी कहानी की प्रशंसा है या आलोचना! शाम को चपरासी कहानी मुझे घर पर दे गया था।

यह प्रसंग अब कोई सार्थक नहीं है, लेकिन उस टिप्पणी में इस घटना को बंदूक दागने के साथ जोड़ा गया है, इसलिए लिखना आवश्यक हो गया। शिवानी जी के परिवार में पुष्पेश पंत और मुक्तेश पंत (बड़े भाई) से मेरे निकट के संबंध रहे हैं—वे दोनों मेरे सहपाठी थे। मृणाल से शायद उस घटना के बाद कभी बातें नहीं हुई हैं—हालांकि उनकी कहानियों और समीक्षाओं का मैं पहले से प्रशंसक रहा हूं। शिवानी जी और पुष्पेश दोनों की अपेक्षा मुझे मृणाल का लेखन और उनकी दृष्टि अधिक सहज लगी है।

लेखक और लेखन के संबंध में हमारी दृष्टि शायद वैयक्तिक संबंधों से उतनी प्रभावित और परिचालित नहीं होती। यह दृष्टि शायद लेखन को लेकर हमारे अपने नजरिये द्वारा बनती है। मैंने पुष्पेश और मृणाल का प्रसंग मात्र इसलिए दिया है कि वे उस परिवार से जुड़े थे जिससे शिवानी जी और कुछ हद तक मैं भी जुड़ा था। इन सभी के लेखन के बारे में जो मेरी दृष्टि होगी वह हिंदी लेखन और प्रकारांतर से समसामयिक लेखन के सापेक्ष होगी। इनमें से किसी एक को दूसरे के सापेक्ष देखना, मेरी दृष्टि में, उतना ही हास्यास्पद होगा, जैसे प्रेमचंद के समानांतर अमृतराय को देखना या इससे भी अधिक स्पष्ट शब्दों में हजारीप्रसाद जी के समानांतर मुकुंद द्विवेदी को या राजेंद्र यादव के समानांतर मन्नू जी को देखना। इनमें कौन आगे है, कौन पीछे—यह एक फूहड़ प्रश्न है, क्योंकि सबकी दृष्टियां नितांत अलग हैं, कार्यक्षेत्र नितांत अलग हैं और अगर कार्यक्षेत्र एक हैं, तो तुलना इन्हीं से क्यों हो?

शिवानी जी के लेखन का मैं प्रशंसक नहीं हूं, तो इसका यह अर्थ कहीं नहीं है कि मैं उनका केवल आलोचक हूं। यह दर्शन मेरे पल्ले नहीं पड़ता कि किसी अध्यापक का पढ़ाना हमको पसंद नहीं है, तो हम उसके दुश्मन हो जाएं या किसी संगीतकार की आवाज हमें पसंद नहीं है, तो हम उसका गला घोंट दें। न ऐसा कहीं होता ही है। कई ऐसे लोग हैं जिन्हें हम जानते भी नहीं, फिर भी उनका प्रभाव ग्रहण करते हैं। लेखन के क्षेत्र में तो बहुधा ऐसा होता है कि मित्रता और परिचय के संबंधों से भिन्न एक अलग ही किस्म का संबंध सूत्र निर्मित होता है। निश्चय ही यह संबंध अधिक आत्मिक, पवित्र और गहन होता है।

मैंने जिस पहली घटना का उल्लेख ऊपर किया है, उसमें से केवल एक अंश ही शिवानी जी को याद रह सका।

पांच-छः वर्ष पूर्व मेरे पास एक पत्र आया था जिसमें पत्र लेखक ने लिखा था कि वह मेरा विद्यार्थी रहा है। दो वर्ष मुझसे पढ़ने के बावजूद वह कक्षा में कभी मुझसे नहीं बोला था, लेकिन कुछ प्रश्न अनुत्तरित रह गए थे जिन्हें उसने मुझे लिख भेजा था। अभी तक मैं उसके प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाया हूं और मेरे बारे में शायद उसकी धारणा भी यह बन गई है कि मैं भी उतना ही "कैरियरिस्ट" हूं जितने कि वे सब लोग, जिन्हें वह मुझसे भिन्न समझता था।

कितनी अजीब-सी बात है कि लंबे जीवन का ताना-बाना इतनी छोटी-सी असार्थक बातों से प्रभावित होता है, बनता है और इन छोटी बातों के द्वारा हम आशा करते हैं कि प्रशंसा और निंदा जैसे भारी-भरकम शब्द और अनुभूतियां निर्मित हों, जिस निम्नवर्गीय परिवेश के बीच मेरे संस्कार बने हैं—उनमें तो मुझे नहीं लगता कि ऐसा होता होगा—शिवानी जी जिस उच्च-मध्यवर्गीय परिवेश के बीच रही हैं—वहां शायद ऐसा होता होगा। जिस अनुभूति को मैंने जिया ही नहीं है, उसके बारे में कैसे कह दूं? हो सकता है, इसे ही दोगलापन कहते हों!

संपादक, 'उत्तराखंड भारती', एस० आर० काटेज, तल्लीताल, नैनीताल-263002

हमारे नवीनतम प्रकाशन

- **सुन्दर वस्तुएं (हमारी विरासत की झलक) - ले० विद्या दवीजया**
  भारतीय कला विरासत के विषय पर बच्चों के लिए लिखी गई एक विशेष पुस्तक। पृष्ठ-62 रु० 12-50

- **जंगल के नागरिक - ले० राजेन्द्र अवस्थी**
  वन्य जीवों पर 24 कहानियों का एक रोचक संग्रह। पृष्ठ-70 रु० 6-00

- **गीत भारती - ले० सोहन लाल द्विवेदी**
  द्विवेदी जी की यह अनुपम कृति बाल पाठकों की प्रेरित करेगी, गुदगुदाएगी तथा आगे बढ़ने का संबल बनेगी। पृष्ठ-28 रु० 6-00

- **मोर (हमारा राष्ट्रीय पक्षी) - ले० अजित कुमार मुखर्जी**
  इस पुस्तक में लेखक ने भारत के पक्षियों में सबसे भव्य आकर्षक और रंग-बिरंगे राष्ट्रीय पक्षी मोर की जानकारी रोचक भाषा में प्रदान की है। पृष्ठ-40 रु० 6-00

- **कबूतर - ले० राजेश बेदी**
  इस पुस्तक में लेखक ने इस पक्षी के गुणों तथा स्वभाव के बारे में बच्चों के लिए रोचक जानकारी प्रदान की है। पृष्ठ-64 रु० 5-00

- **जलियाँवाला बाग (द्वितीय संस्करण) - ले० रामेश्वर उपाध्याय**
  13 अप्रैल, 1919 को हुई दुर्घटना की एक झांकी जिसे हम कभी भी भूल नहीं सकते। पृष्ठ-25 रु० 2-50

- **अंतरिक्ष विज्ञान और भारत - ले० मोहन सुन्दरराजन**
  अंतरिक्ष विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भारत के प्रयासों और प्रगति की एक कहानी। पृष्ठ-106 रु० 5-00

- **सुभाष चन्द्र बोस - ले० डा० गिरिजा कुमार मुखर्जी**
  आधुनिक भारत के निर्माता पुस्तकमाला के अन्तर्गत एक महान नेता का संक्षिप्त जीवन परिचय। पृष्ठ-160 रु० 9-00

डाक खर्च मुफ्त। 10 रु० से कम के आदेश पर पंजीकरण शुल्क अतिरिक्त भेजिए। पुस्तकें स्थानीय पुस्तक विक्रेताओं से लें या सम्पूर्ण साहित्य की जानकारी के लिए लिखें :-

व्यापार व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार

- पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001
- सुपर बाजार (दूसरी मंजिल), कनाट सर्कस, नई दिल्ली-110001
- 8, एस्पलेनेड, कलकत्ता-700069
- कामर्स हाउस (दूसरी मंजिल), करीम भाई रोड, बैलर्ड पीयर, बम्बई-400037
- शास्त्री भवन, 35, हैडोज रोड, मद्रास-600006
- बिहार स्टेट को-आपरेटिव बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना-800004
- प्रेस रोड, त्रिवेन्द्रम-695001

निदेशक प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित तथा प्रिंटिंग प्रेस इंस्टीट्यूट फॉर दि डैफ, 4E/6, झंडेवालान एक्सटेंशन, नई दिल्ली-110055 द्वारा मुद्रित।

P. & T. Regd. No. D(D)/105
Licenced U (D) 49 to post without pre-payment at Civil Lines Post Office, Delhi.
R.N. 701/57

अगले अंक में विशेष

● अजित कुमार से प्रदीप पंकज की बातचीत ● जवाहरलाल नेहरू—व्यक्तित्व के तीन आयाम (प्रजातांत्रिक, अंतर्राष्ट्रीय एवं साहित्यिक) : प्रभाकर माचवे, जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी तथा सुरेश कोहली ● समकालीन साहित्य एवं परंपरा की पहचान : विद्यानिवास मिश्र ● प्रयाग शुक्ल तथा राजकुमार कुंभज की कविताएं ● आश्रय की खोज और लेखक की भूमिका : नंद चतुर्वेदी एवं नवल किशोर ● 'कुरु कुरु स्वाहा' : एक दिलचस्प शिल्प-प्रयोग : श्यामाचरण दुबे, अर्चना वर्मा तथा डी० प्रसाद ● मुद्रित शब्द की स्वतंत्रता : महेंद्र कुलश्रेष्ठ ● रमेशचंद्र शाह तथा प्रभुनाथ सिंह 'आज़मी' की कहानियां ।